UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ३ अङ्क २

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, २०१४

सम्पादक :
प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष ३ अङ्क २

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Vananasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peet, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nanwa, Varanasi.

February, 2014

Editor :
Prof. Shrikishore Mishra

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shat be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी	i-ii

शोधलेख

१.	दश महाविद्या का स्वरूप	पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज	१–६
२.	काम–कला रहस्य	महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज	७–१३
३.	तान्त्रिक दृष्टि में शिव एवं शिवा का सामञ्जस्य एवं रात्रितत्त्व	महामहोपाध्याय बलदेव उपाध्याय	१४–२३
४.	आम्नायस्वरूपम्	पं. श्रीकृष्णमूर्तिशर्मा	२४–२९
५.	पशुपाशविमोचिनी भगवती श्रीललिता	प्रो. श्रीकिशोरमिश्र 'यागानन्दनाथ'	३०–३५
६.	ॐकारस्य स्वरूपं महत्त्वञ्च	डॉ. माधवजनार्दनरटाटे	३६–४०
७.	*लक्ष्मीतन्त्र* में श्रीसूक्त के नामों का निर्वचन तथा मन्त्र निर्धारण	डॉ. हर्षदेव माधव	४१–५७
८.	शिवसूत्रों की नन्दिकेश्वर कृत आगमिक व्याख्या का विमर्श	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	५८–७०
९.	पाञ्चरात्रागम में गुरुतत्त्व	डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	७१–७७
१०.	तन्त्रसांख्ययोः सृष्टिविमर्शः	शशिकान्ततिवारी	७८–८१

११.	तान्त्रिक रहस्यलोक का उत्सव : नवरात्र	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	८२–८६
१२.	योगसाधना द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा	डॉ. राजकुमारी त्रिखा	८७–९६
१३.	ग्रहाणां निगमागमपरम्परानुशीलनम्	मधुसूदनमिश्रः	९७–१०२
१४.	श्रीविद्यासाधना पीठ का परिचय		१०३
१५.	लेखकों से निवेदन		१०४

सम्पादकीय

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नवीन अङ्क प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज का 'दशमहाविद्या का स्वरूप' विषय निबन्ध संगृहीत है जिसमें तन्त्रों में वर्णित दश महाविद्याओं का ध्यानस्वरूप सुविवेचित है। 'कामकलारहस्य' नामक आलेख में पूज्य महामहोपाध्याय पं. श्री गोपीनाथ कविराज ने साधकों के लिए परमगोपनीय विषय कामकला के रहस्य को प्रकट करते हुए साधकों की जिज्ञासाओं का शास्त्रीय समाधान भी प्रस्तुत किया है। महामहोपाध्याय पं. बलदेव उपाध्याय के निबन्ध 'तान्त्रिक दृष्टि में शिव एवं शिव का सामञ्जस्य एवं रात्रि तत्त्व' में व स्वरूप विवेचित करते हुए प्रसङ्गत: त्रिपुर सुन्दरी एवं वैदिक रात्रितत्त्व का रहस्य भी प्रकट किया है तथा सभी देवियों की एकता को तार्किक आधारों पर सुस्पष्ट किया है। आगमिक उपासना में रहस्यमय रहे मन्त्रों के आम्नाय स्वरूप पर पं. श्रीकृष्णमूर्ति शर्मा ने अपने वैदुष्यपूर्ण आलेख में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। 'पशुपाशविमोचिनी भगवती श्रीललिता' आलेख में प्रो. श्रीकिशोर मिश्र जी ने पशुपाशविमोचनी पद का शास्त्रीय निर्वचन करते हुए विविध शास्त्रीय प्रमाणों से उसकी अनेकार्थकता को सुस्पष्ट करने का महनीय प्रयास किया है।

ॐकार की वैदिक एवं आगमिक विवेचना का सार गृहीत करते हुए डॉ. माधवजनार्दनरटाटे ने उपनिषद् एवं धर्मशास्त्र की मान्यता के आधार पर इसकी सर्वोच्चता सुनिर्धारित की है।

श्रीविद्या के उपासक विद्वान् डॉ. हर्षदेव माधव ने अपने विस्तृत लेख 'लक्ष्मीतन्त्र में श्रीसूक्त के नामों का निर्वचन एवं मन्त्र निर्धारण' की शास्त्रीय समीक्षा की है। श्रीसूक्त के नामों का रहस्य एवं साधना विधि इनके लेख से सुस्पष्ट होती है। श्रीसूक्त के 53 नामों का निर्वचन एवं मन्त्र यहाँ विवेचित हैं। पाणिनि व्याकरण के 14 शिवसूत्रों की आगमिक व्याख्या डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा ने अपने आलेख में प्रस्तुत की है। वर्णों के द्वारा सृष्टि तथा बीजमन्त्रों का रहस्य महान् तन्त्रवेत्ता आचार्य नन्दिकेश्वर के द्वारा प्रस्तुत किया गया था जिसकी सुविवेचना यहाँ प्रस्तुत की गई है। अइउण आदि सूत्रों का वर्णसमाम्नाय यहाँ सुस्पष्ट किया गया है तथा वर्णमातृका के जागतिक स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है।

'पञ्चरात्रागम के गुरुतत्त्व' विषयक लेख में डॉ. शीतलप्रसाद पाण्डेय ने वैष्णव मत में गुरु, दीक्षा एवं शिष्यादि के लक्षणों की सयुक्तिक विवेचना 'तन्त्रसाङ्ख्यो : सृष्टिविमर्श:' निबन्ध में दोनों शास्त्रों की परम्परा का साम्य एवं वैषम्य प्रदर्शित किया गया है। प्रख्यात समीक्षक देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी ने नवरात्र उत्सव के सांस्कृतिक आधार को सुस्पष्ट किया है। उन्होंने वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक परम्परा का समन्वय भी यहाँ प्रदर्शित किया है।

'योगसाधना द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा' विषयक लेख में प्रख्यात विदुषी डॉ. राजकुमारी त्रिखा ने मानसिक रोगों के उपशमन में यौगिक उपायों की सरलता एवं सटीकता सुप्रमाणित की है। कुपित त्रिदोषों की शान्ति, शरीरस्थ मल की निष्कासन प्रक्रिया तथा ध्यान एवं मन्त्र जप से मानसिक शक्ति की सार्थकता को वैज्ञानिक आधार पर प्रमाणित किया है तथा योगचिकित्सा की श्रेष्ठता भी सिद्ध की है। अन्तिम लेख 'ग्रहाणां निगमागमपरम्परानुशीलम्' लेख में ग्रहों के भौतिक स्वरूप के साथ शास्त्रों में प्रणीत दैवीय स्वरूपों की मान्यता सुस्पष्ट की। इस प्रकार यह अङ्क अनेक प्रकार की जिज्ञासाओं का समाधान निश्चय ही करता है।

यह अंक न केवल महत्त्वपूर्ण पूर्वप्रकाशित सामग्री को साधकों के लिए उपलब्ध कराता है अपितु नई रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अंक का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिए उपयोगी होगा।

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का आगामी अंक करपात्री स्वामी जी की जयन्ती के शुभ अवसर पर अगस्त मास में प्रकाशित होगा। अत: शास्त्र साधना के क्षेत्र में रत सुधी विद्वज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त पत्रिका में प्रकाशनार्थ श्रीविद्या, तन्त्र आगम आदि विषयों से सम्बद्ध वैदुष्यपूर्ण शोध लेख श्रीविद्यासाधना पीठ के पते पर प्रेषित कर पत्रिका के पल्लवन एवं उन्नयन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

दश महाविद्या का स्वरूप

पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्रजी महाराज

महाकाली

भगवती के ही दश भेद और होते हैं। इसमें प्रथम महाकाली है। महाकाली प्रलयकाल से सम्बद्ध रहती है, अतएव वह कृष्णवर्ण ही है। वह शव पर इसलिये आरूढ़ है कि शक्तिविहीन मृत विश्व के ऊपर विराजमान है। शत्रुसंहारक की शक्ति भयावह होती है, इसलिए काली मूर्त्ति भी भयावह है। शत्रुसंहार के बाद योद्धा का अट्टहास भीषणता के लिए होता है इसीलिए महाकाली हँसती रहती है। निर्बल के आक्रमण को विफल कर उसकी दुर्बलता पर हँसा जाता है, इसी तरह निर्बल विश्व के घमण्ड को चूर कर भगवती हँसती है। पूर्ण वस्तु को चतुरस्र कहा जाता है, इसीलिये पूर्णतत्त्व चार भुजा से प्रकट हुआ करता है। इसीसे माँ काली की चार भुजाएँ हैं। वह स्वयं निर्भय है, उसका आक्रमण आश्रयण करने वाले निर्भय होते हैं, इसीलिए भगवती ने अभय मुद्रा धारण की है। सांसारिक सुख क्षणभङ्गुर है, परमसुख भगवती ही है, जीवित विश्व का एवं मृत विश्व का भी आधार वही है। मृतप्राणियों का भी एकमात्र सहारा है, यही द्योतन करने के लिए देवी ने मुण्डमाला पहनी है। विश्व ही ब्रह्मरूपा भगवती का आवरण है, प्रलय में सबके लीन होने पर भगवती नग्न ही रहती है। सारे विश्व के श्मशान के तरने पर उस तमोमयी का विकास होता है, इसीलिए वह श्मशानवासिनी है—

शवारूढां महाभीमा घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्।।
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम्।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम्।। — *शाक्तप्रमोद-कालीतन्त्र*

तारा

हिरण्यगर्भावस्था में कुछ प्रकाश होता है, प्रलयरूपी कालरात्रि में ताराओं के समान सूक्ष्म जगत् के ज्ञान एवं तत्साधनों का प्राकट्य होता है, उसी हिरण्यगर्भ की शक्ति 'तारा' है। सूर्य कोटि भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है, सूर्य रुद्र भी कहे जाते हैं। उनका शान्त और घोर दो रूप होता है। हिरण्यगर्भ पहले क्षुधा से उग्र था जब उसे अन्न मिलने लगा, तब शान्त हुआ। उसी उग्र हिरण्यगर्भ की शक्ति उग्रतारा है।

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासापरा
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वानीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता
जाड्यां न्यस्य कपालकर्तृजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्।।

— शाक्तप्रमोद-तारातन्त्र

क्षुधातुर हिरण्यगर्भ भी संहारक होता है, अत: उसकी शक्ति तारा भी संहारिणी है। उसने चारों हाथों में जहरीले सर्प लिये हैं। सर्प भी संहार का सूचक है। वह भी शव पर प्रतिष्ठित है। मुण्ड और खप्पर से यह सूचित होता है कि वह भयानक होकर खप्पर द्वारा विश्व का रसपान करती है। उसकी जहलीरी रश्मियों की भयानकता दिखलाने के लिए जटाजूट नाग का वर्णन है।

प्रकृति: पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति।
तदन्तस्त्वेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे।।

पुरुष का स्पर्श करते ही प्रकृतित्व को छोड़कर पुरुष के साथ इस तरह मिल जाती है, जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्य: प्रभवति।। *— सौन्दर्यलहरी*

हरि, हर, विरञ्चि प्रभृतियों से परमपूज्य अम्बा को प्रणाम या उनका स्तवन किसी अकृतपुण्य प्राणी द्वारा नहीं हो सकता। भगवती की पूजा जैन-बौद्धों में भी होती रही है, विशेषत: तारा की पूजा का रहस्य बुद्ध ही जानते थे। तारा ही द्वितीया रूप से प्रसिद्ध है, सुतारा रूप से वही जैनों में भी पूज्य है, अक्षोभ्य ही वहाँ अवलोकितेश्वर रूप में प्रसिद्ध है।

क्षोभादिरहितो यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्।
अत एव महेशानि अक्षोभ्य: परकीर्त्तित:।।
तेन सार्धं महामाया तारिणी रमते सदा।

हलाहल विष पीने पर भी जो क्षोभरहित रहे वही शिव अक्षोभ्य हैं, उनके साथ रमण करने वाली तारा है।

मदीयाराधनाचारं बौद्धरूपी जनार्दन:।
एक एव विजानाति नान्य: कश्चन तत्त्वत:।। *— ललितोपाख्याने*

तारा की ही उक्ति है कि बौद्धाचार से ही उनका पूजन श्रेष्ठ है। तारिणी शक्तियों से विशिष्ट महाशक्ति तारा है।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव यथा न: सुभगा ससि यथा न सुफला ससि।

— तै. आ., 6/6/2

"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा"
"ऐश्वर्यावचनः शक्तिः सा पराक्रम एव च।
तत्स्वरूपा तयोर्दात्री सा शक्तिः परिकीर्तिता।।"

षोडशी

प्रशान्त हिरण्यगर्भ या सूर्य शिव है, उनकी शक्ति 'षोडशी' है। इनकी विग्रहमूर्ति पञ्चवक्त्र है। चारों दिशाओं एवं ऊर्ध्वदिशा के अभिमुख होने से उन्हें पञ्चवक्त्र कहते हैं। तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान यही इनके प्रसिद्ध नाम हैं। पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा, दक्षिणा, ऊर्ध्वदिक् के हरित, रक्त, धूम्र, नील, पीतरङ्ग के मुख हैं। दश हाथों में अभय, टङ्क, शूल, वज्र, पाश, खड्ग, अङ्कुश, घण्टा, नाग और अग्नि लिये हैं।

यह बोधरूप है—

मुक्तापीतपयोदमुक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान् नागेन्द्रपाशाङ्कुशान्।
पाशं भीतिहरं दधानममिता वाग्भ्यो ज्वालाङ्गं भजे।।

इसमें षोडशकलाओं का पूर्णरूप से विकास है, अत एव यह भी 'षोडशी' कहा जाता है। इस पञ्चवक्त्र की शक्ति षोडशी है।

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे।। — *षोडशीतन्त्र*

बालार्कमण्डल के समान आभावाली, सूर्य, सोम, अग्नि इन तीन नेत्रों वाली, चतुर्भुज, पाश, अङ्कुश, चाप और शर को धारण किये हैं।

भुवनेश्वरी

वृद्धिगत विश्व का अधिष्ठाता त्र्यम्बक है, उसकी शक्ति 'भुवनेश्वरी' है। उसका स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र कहते हैं—

उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्।।

सोमात्मक अमृत से विश्व का आप्यायन होता है, इसीलिये भगवती ने अपने किरीट में चन्द्रमा को स्थान दे रखा है। त्रिभुवन का भरण-पोषण भगवती ही करती है। उसीका संकेत करमुद्रा से है। कृपादृष्टि की सूचना उसके स्मेर (मृदुहास) से है। शासनशक्ति का सूचक अङ्कुश-पाश आदि से है।

छिन्नमस्ता

विपरिणतमान जगत् का अधिपति चेतन कबन्ध है, उसकी शक्ति 'छिन्नमस्ता' है। विश्व का उपचय-अपचय तो हर समय ही होता रहता है, परन्तु जब ह्रास की मात्रा कम और विकास या आगम की मात्रा ज्यादा रहती है, तब भुवनेश्वरी का प्राकट्य होता है। जब निर्गम अधिक और आगम कम हो जाता है, तब छिन्नमस्ता का प्राधान्य होता है। उसका ध्यान यह हो—

प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः कर्त्रिकाम्,
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्तीं मुदाम्।
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृतां,
रत्यासक्तमनोभवोपरिदृढां ध्यायेज्जवासन्निभाम्।।
दक्षे चातिसिताविमुक्तचिकुरां कर्त्रीं तथा खर्परं,
हस्ताभ्यां दधतीं रजोगुणभुवा नाम्नाऽपि सावर्णिनीम्।
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्तीं मुदा,
नागाबद्धशिरोमणिर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः।।
प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्तीं मुदा,
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी। — *छिन्नमस्तातन्त्र*

छिन्नमस्ता भगवती छिन्नशीर्ष और कर्तरी एवं खप्पर को लिये हुए स्वयं दिगम्बर रहती है। कबन्ध-शोणित की धारा को पीती रहती, कटे हुए शिर में नागाबद्ध मणि विराजमान है और नील नयन हैं, हृदय में उत्पल की माला है, रत्यासक्त मनोभाव के ऊपर विराजमान रहती है।

त्रिपुरभैरवी

क्षीयमान विश्व का अधिष्ठाता दक्षिणामूर्ति कालभैरव है, उसकी शक्ति 'भैरवी' है। उसका ध्यान यह है—

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्।। — *भैरवीतन्त्र*

उदित होते हुए सहस्रों सूर्य के समान अरुणकान्तिवाली, क्षौमाम्बर को धारण किये एवं मुण्डमाला पहने हैं। रक्त से उसके पयोधर लिप्त हैं, तीन नेत्र एवं हिमांशुबद्ध मुकुट को धारण किये तथा हाथ में जपवटी, विद्या, वर एवं अभयमुद्रा को धारण किये रहती हैं।

धूमावती

विश्व की अमाङ्गल्यपूर्ण अवस्था की अधिष्ठात्रीशक्ति 'धूमावती' है। यह विधवा समझी जाती है, अतएव यह पुरुष का वर्णन नहीं है। यहाँ पुरुष अव्यक्त है, चैतन्य, बोध आदि अत्यन्त तिरोहित होते हैं।

इसका ध्यान यह है—

विवर्णा चञ्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा।।
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना।।
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा।।

विवर्णा, चञ्चला, दुष्टा एवं दीर्घ तथा मलिनअम्बरवाली, खुले केशों वाली, विरलदन्तवाली, विधवारूप में रहने वाली, काकध्वजवाले रथ पर आरूढ़, लम्बे पयोधरवाली, हाथ में शूर्प लिये हुए अत्यन्त रूक्ष नेत्रवाली, कम्पित हस्त, लम्बी नासिका, कुटिल स्वभाव, कुटिल नेत्रयुक्त, क्षुधा-पिपासा से पीड़ित, सदा भयप्रद और कलह का निवास-रूपिणी है।

बगला

व्यष्टि में शत्रुसंजिहीर्षा, समष्टि में परमेश्वर की संहारेच्छा की अधिष्ठात्री शक्ति 'बगला' है। इसका ध्यान यह है—

जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि।।

अर्थात् शत्रु के हृदय पर आरूढ़, वामहस्त से शत्रुजिह्वा को खींचकर दक्षिण हस्त से गदाप्रहार करने वाली, पीतवस्त्र धारण की हुई बगला है।

मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदीसिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम्।
पीताम्बराभरणमाल्याविभूषिताङ्गीं देवीं नमामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम्।।

अर्थात् सुधासमुद्र के मध्यस्थित मणिमय मण्डप में रत्नमयी वेदी है, उस पर रत्नमय सिंहासन है उस पर विराजमान पीतवर्णवाली और पीतवर्ण के ही वस्त्राभूषण, माल्य से सुशोभित अङ्गवाली भगवती बगला है, जिसके एक हाथ में शत्रु की जिह्वा और दूसरे में मुद्गर है।

मातङ्गी

मतङ्ग शिव का नाम है, उसकी शक्ति मातङ्गी है। उसका ध्यान इस प्रकार है—

श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकरासेव्यकाङ्घ्रियुग्माम्।
नीलाम्भोजांशुकान्तिं निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च
मातङ्गीमाहवन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि।। — *पञ्चचरणात्मकं पद्यम्।*

अर्थात् श्यामवर्णा चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये हुए, तीन नेत्रों वाली, रत्नमयसिंहासन पर विराजमान, नीलकमल के समान कान्तिवाली, राक्षसरूप अरण्य को दहन करने में दावानलरूपा, चार भुजाओं में पाश, खड्ग, खेटक और अङ्कुशवाली, भक्तों को अभीष्ट फल प्रदान करने वाली, असुरों को मोहित करने वाली मातङ्गी है।

कमला

सदाशिव पुरुष की शक्ति कमला है। उसका ध्यान इस प्रकार है—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै:
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्यमयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
विभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तै: किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्।।

अर्थात् सुवर्णतुल्य कान्तिमती, हिमालय के सदृश श्वेतवर्ण वाले चार गजों के द्वारा शुण्ड से गृहीत सुवर्णकलशों से स्नापित, चार भुजाओं में वर, अभय और कमलद्वय धारण किये हुए तथा उज्ज्वल किरीट धारण किये हुए और क्षौमवस्त्र से आवृत कमला है।

स्वात्मा ही विश्वात्मिका ललिता है। विमर्श रक्तवर्ण है। उपाधिशून्य स्वात्मा महावामेश्वर है। उसके अङ्ग में विराजमान सदानन्दरूप उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही महाशक्ति कामेश्वरी है।

"शिव: शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि।"

निर्गुण पुरुषरूप शिव कामेश्वरी से युक्त होकर विश्वनिर्माणादि कार्यों में सफल हो सकता है, उसके बिना कूटस्थ देव टस से मस नहीं हो सकता। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन्हीं की शक्तिराहित्य विवक्षा से महाप्रेत संज्ञा है। इनमें प्रथम चार में कामेशी के पलङ्ग के पांवों की कल्पना है, सदाशिव में फलक की कल्पना है, निर्विशेष ब्रह्म के आश्रित श्रीकामेश्वरी के श्रीहस्त में पाश, अङ्कुश, इक्षु, धनुष और बाण है। राग ही पाश है, द्वेष ही अङ्कुश है, मन ही इक्षु-धनुष है, शब्दादि विषम पुष्पबाण हैं। कहीं इच्छाशक्ति को ही पाश, ज्ञान को ही अङ्कुश, क्रियाशक्ति को ही धनुष-बाण माना गया है—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषीर्दधदुज्ज्वलम्।

इस प्रकार दश महाविद्याओं का तन्त्रशास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट होता है।

(भक्तिसुधा)

काम–कला रहस्य

महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज

प्रश्न—कामकला तत्त्व किसे कहते हैं? इस सम्बन्ध में हमारी कोई धारणा नहीं है—आप व्याख्या करके समझा दीजिए।

महाकाल संहिता के अन्तर्गत कामकला संहिता की आलोचना में प्रवृत्त होने पर मूल महाकाल संहिता प्राप्ति का विवरण एवं कामकला संहिता का अध्याय सबका विषय निरूपण आवश्यक है। दोनों–ही–दोनों कार्य ही यथासम्भव विस्तृत भाव में किए गए थे किन्तु जो सर्वापेक्षा अधिक आवश्यक है उसी विषय की अवतारणा अभी भी हुई नहीं। यह हुआ कामकला का स्वरूप निरूपण एवं उसका रहस्य निर्णय। शङ्कराचार्य कामकला विद्या के लिए विशेष व्याकुल हुए थे, क्योंकि वे जानते थे कि अद्वैत परम सत्य के समझने के लिए कामकला का विज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। वे '*सौन्दर्यलहरी*' में भी कामकला के सम्बन्ध में अनेक कुछ कहे हैं। भारतीय तान्त्रिक साहित्य की आलोचना करने पर कामकला का रहस्य कुछ–कुछ स्पष्ट प्रतिभात होता है। मेरी धारणा है कि यह कामकला विज्ञान भारत के दक्षिण भाग में भी था एवं उत्तर भाग में भी था। महाकाल संहिता की व्यापकता उत्तर भारत में अधिक थी, काश्मीर, नेपाल, तिब्बत, बिहार, बङ्गलादेश आदि उत्तर–प्रदेश में महाकाल संहिता का प्रचार था ऐसा प्रतीत होता है। यह ऐतिहासिक सत्य है। दक्षिण भारत में महाकाल संहिता के ग्रन्थादि आंशिक रूप में भी उसी प्रकार पाये जाते हैं ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसीलिए ज्ञात होता है कि महाकाल संहिता में विवृत जो कामकला का रहस्य आभासरूप में देखने में पाया जाता है, वह दक्षिण भारत में प्रचलित कामकला विज्ञान से किञ्चित् भिन्न है। महाकाल संहिता में विशेषभाव से कामकला विज्ञान पाने की इच्छा थी किन्तु अब तक वह नहीं मिली। कामकला तत्त्व का जो स्वरूप लेकर तन्त्रशास्त्र प्रवर्तित हुआ है वह दक्षिण भारत में प्रचलित कामकला तत्त्व के आधार पर ही प्रवर्तित है, ऐसा प्रतीत होता है। कामकला के साथ श्रीविद्या का क्या सम्बन्ध है एवं काली अथवा महाकाली का क्या सम्बन्ध है, वह गम्भीर भाव में आलोचना का विषय है।

कामकला शब्द से क्या समझा जाता है, वही विशेष भाव से ध्यान का विषय है। कामकलातत्त्व में कामशब्द सूर्य का वाचक है। 'कामाख्या हि रविः।' इसका ही नाम बिन्दु है, जो कभी–कभी महाबिन्दु नाम से

अभिहित होता है। अग्ि से संहार होता है और सोमकला से सृष्टि होती है। फलत: अग्ि और सोम यह दो बिन्दु सृष्टि और संहार के वाचक है एवं सूर्य अथवा रवि जो बिन्दु स्वरूप काम है उस स्थिति का वाचक है।

दोनों शक्ति परस्पर विशुद्ध भाव से क्रिया करने पर यदि दोनों शक्ति तुल्य बल वाली हों, वैसा होने पर दोनों की किसी दिशा में गति नहीं होती, स्थिति होती है। यही स्थिति ही अग्ि और सोम के साम्यावस्था के रूप में बिन्दु जाननी होगी। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार यह स्थिति-बिन्दु अथवा रवि शिवशक्ति का सामरस्य स्वरूप है। यह सामरस्य स्थितिरूप में नित्य वर्तमान रहता है। यह निष्क्रिय (static) नहीं, क्रियाशील (dynamic) नहीं, वस्तुत: निष्क्रिय (static) और क्रियाशील (dynamic) दोनों का समन्वय (Equilibrium) है। यह स्थितिबिन्दु समग्र सृष्टि के अन्तराल में नित्य सिद्धरूप में वर्तमान रहता है। शिवशक्ति वस्तुत: प्रकाश और विमर्श का नामान्तर है। प्रकाश अग्निस्वरूप है, विमर्श मृतस्वरूप है। अग्ि के सम्पर्क में घृत जिस प्रकार विगलित होने पर उसका स्राव होता है, तद्रूप प्रकाश बाह्य सम्पर्क में विमर्शरूप विगलित हुआ प्रवाहित होता रहता है। जिस अवस्था में प्रकाश एवं विमर्श समरस होता है, उसका कोई परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि वह स्थितिरूप है। यह जो विमर्श का स्राव है यह अबाधित भाव में चलता रहता है। इसके फल में ही चित्शक्ति अथवा संवित् का उद्भव होता है एवं संवित् से ही विश्व के मूलीभूत 36 तत्त्व आविर्भूत होते हैं। इन 36 तत्त्वों में शिव और शक्ति पहले ही रहते हैं। वही शिव-शक्ति और बिन्दुरूप में अथवा सविता के स्वरूप में समरसरूप स्थितिपद में जो शिवशक्ति रहते हैं, उनमें कुछ पार्थक्य है। यह विशेष रूप से अनुधारण के योग्य है। यह जो बिन्दु और शिवशक्ति है, इसके अन्तराल में हार्दकला क्रियाशील रूप में विद्यमान रहती है। यही देवी के योनिप्रदेश में धारारूप में नि:सृत होती है। 36 तत्वों का तरङ्ग इससे ही उद्भूत होता है।

सूक्ष्म भाव में आलोचना करने पर समझा जा सकता है कि कामकला ही शक्ति का आदि रूप है। कामकला विश्व के आविर्भाव के प्राञ्जल स्वरूप हुई आविर्भूत होती है। यह नित्यसिद्ध सामरस्य की समकालीन सत्ता है। बिन्दु के चक्र से ही सृष्टि का आविर्भाव होता है एवं यह चक्र महाबिन्दु के आश्रय करके स्थिति से ही सृष्टि का आविर्भाव होता है एवं यह चक्र महाबिन्दु के आश्रय करके स्थितिशील होता है। महाबिन्दु बोलने से शिवशक्ति के सामरस्य को समझा जाता है। यह सामरस्य स्थिति का स्वरूप है। इसके ही पीछे हार्दकला का स्राव होता है एवं विश्व के उत्पादक तत्त्वसमूह का आविर्भाव होता है। शिवशक्ति विश्व के मूल में भी है, विश्व के स्वरूप में भी है। जिस मातृशक्ति को समग्र विश्व को उत्पन्न करके विश्वप्रसृति नाम से परिचय प्राप्त होता है, वह विश्वसृष्टि के क्रमविकास के पथ में एक दिशा में कामकलाक्षर को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है।

विश्वसृष्टि के मूल में कामकला का कार्य रहता है, यह सब वादियों द्वारा सिद्ध है। प्राचीन भारत में तान्त्रिक साहित्य आलोचना करने पर देखा जाता है कि श्रीविद्या के रूप में अथवा महाकाली के रूप में कामकला की क्रिया ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। कामकला की क्रिया को छोड़कर विश्वसृष्टि नहीं हो सकती। हम प्राचीन तन्त्रसाहित्य की आलोचना करने पर, श्रीचक्र का आविर्भाव भी, इस कामकला के द्वारा होता है, यह देख पाते हैं। किन्तु दशमहाविद्या की काली भी कामकलाकालीरूप में कामकला के साथ जड़ित रहती है। श्रीचक्र त्रिपुरासुन्दरी के क्रमानुसार कल्पित हुआ है। ठीक उसी प्रकार कामकला काली की भी एक स्वतन्त्र धारा है, यह निश्चित है। यह धारा क्या है, वह वर्तमान महाकाल संहिता के कामकला खण्ड से जानना सम्भव नहीं हुआ। जिस प्रकार से भी हो कामकला में दिए हुए सब प्रकार के क्रमानुसार सृष्टि होती रहती है। जितनी देर महाकाल संहिता का अनुमोदित क्रम परिज्ञात नहीं होता उतनी देर प्रचलित क्रम के अनुसार ही कामकला तत्त्व समझना होता है। समग्र विश्व इस कामकला के स्वरूप की विभिन्न प्रकार की कल्पना के ऊपर कल्पित है। कामकला की आलोचना में हम प्रचलित सृष्टि के क्रम को समझने की चेष्टा करें। लेकिन ध्यान रखना होगा यह एक पक्ष की कथा मात्र है। क्योंकि विश्वसृष्टि समझो पर षोडशी अथवा श्रीविद्या का क्रम आदि विद्या काली के क्रम से अवश्य ही भिन्न होता है। तभी दोनों ही अद्वैत दृष्टि को आधार बनाकर कल्पना की हुई है। *(विजिज्ञासा)*

काम-कला में काम क्या है? बिन्दु-कामाख्या बिन्दु (हेमेन दादा ने पूछा—क्या महाबिन्दु कहा जा सकता है?) यह बिन्दु क्या है? शिव-भक्ति का सामरस्य यानी शिव और शक्ति। शिव है स्थिर (staltic) और शक्ति है गत्यात्मक (dynamic)। ये दोनों परस्पर विरोधी (Counteract) करते हैं। शिव स्थिर होने पर भी शक्ति के होने के कारण स्थिर नहीं है। शक्ति स्थिर होने पर भी शिव के होने के कारण गत्यात्मक नहीं होती। यह उसको प्रतिकूल (Contradict) कर रहा है और वह इसको प्रतिकूल कर रहा है। यही है इसकी पृष्ठभूमि, इसीको स्थिति कहते हैं। सृष्टि और संहार की जो क्रियाएँ होती हैं, वह अग्नि और सोम के द्वारा होती है। अग्नि के द्वारा संहार होता है और सोम के द्वारा सृष्टि होती है। हम बाहर देखते हैं कि अगर आग किसी चीज को जलाना चाहती है तो उसे ईंधन की जरूरत होती है। लकड़ी, ईंट आदि कोई भी सामग्री हो, बिना उसके किसे जलाओगे? वह सब सोम की चीजें हैं, इसलिए बिना सोम का आश्रय लिये कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि सोम का आश्रय न लेने पर अग्नि क्रियाशील हो ही नहीं सकती। ठीक इसी प्रकार सोम अग्नि के बिना क्रियाशील नहीं हो सकता। सोम है—बिन्दु—चन्द्र-बिन्दु। इस बिन्दु को गलाने के लिए अग्नि की जरूरत होती है। फलत: सोम को अपने काम के लिए अग्नि की जरूरत होगी और अग्नि को अपने काम के लिए सोम की जरूरत होगी। यह सृष्टि और संहार का व्यापार है। सृष्टि और संहार वैसे है जैसे देवी के दो स्तन और कपाल में मध्य बिन्दु है—सूर्य—स्थिति। यह स्थिति है—सृष्टि तथा संहार का

संतुलन–समरस। सृष्टि और संहार जब समरस हो जाते हैं तब यह स्थिति हो जाती है। मैं सृष्टि और संहार के बारे में नहीं कह रहा हूँ। मैं तो शिव और शक्ति के बारे में कह रहा हूँ। शिव हैं प्रकाश और शक्ति है—विमर्श। अगर ये दोनों तुल्यबल हों, सामरस्य हो जायँ तो वही सूर्य होगा। वही कामाख्या–बिन्दु। यही बीच में है।

इधर देखो जब नीचे उतरूँगा तब होगी हार्द्धकला। हार्द्धकला का मतलब है योनि–प्रवेश से। हार्द्धकला और एक ओर सोम और अग्नि। अग्नि है प्रकाश और सोम घी की तरह। घी जिस प्रकार अग्नि के ताप से गल जाता है, उसी प्रकार जो स्थानीय सोम होता है, वह गलता है, अनुकरण करता है। यही अनुकरण करना ही चित्शक्ति है, संवित् है। इस संवित् के साथ सृष्टि का मूलाधार होता है, अर्थात् 36 तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन 36 तत्त्वों में शिव शक्ति भी होता है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि से ही शिव–शक्ति आविर्भूत होते हैं। क्योंकि यहाँ विश्व है। शिव शक्ति को अलग कर देने पर विश्व रह नहीं सकता। शिव–शक्ति का आविर्भाव उसी मूलाधार से होता है। इस शिव–शक्ति की पृष्ठभूमि में है वह शिव–शक्ति। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों शिव–शक्ति में भेद है। एक शिव–शक्ति हुए सृष्टि के अन्तर्गत और एक शिव–शक्ति है स्थिति के अन्तर्गत। स्थिति का अर्थ है, शिव–शक्ति जब समरस होता है और सृष्टि के भीतर प्रवाह होता है। मतलब यह कि प्रवाह–अवस्था हो या स्तम्भित अवस्था हो, शिव–शक्ति को छोड़कर कुछ नहीं होगा। इसके भीतर कौन–सी काम–कला है? यह सोचने की बात है। कहते हैं न—**अकार: सर्ववर्णाग्र: प्रकाश: परम: शिव:।** मतलब अकार है शिव और हकार अन्त्यकलारूप विमर्श। एक है 'अ' और दूसरा है 'ह'। इससे तैयार हुआ अहं—म् है बिन्दु।

अहं समस्त वर्णमाला की जो समष्टि है, वही है। अहं सम्पूर्णता–अखण्डता को निरूपित करता है—समस्त ऊर्जा–क्षेत्र जो सब आवृत कर रहा है। इसका मूलाधार भी वहाँ है, पर मूलाधार में जो है, वह शक्ति के रूप में है। जैसे एक उत्तर की ओर जा रहा है और दूसरा दक्षिण की ओर खींच रहा है। उसकी भयानक प्रवृत्ति या प्रबलता है। अगर दोनों की शक्ति बराबर हो तो वह कहाँ जायेगा? तब तो वह किसी ओर नहीं जा सकेगा। यह जो स्थिति है, यही शक्ति की स्थिति है। इधर जाने पर शक्ति विरोध करती है और उधर जाने पर शक्ति विरोध करती है। इसके पीछे यह स्थायी रूप से है। शिव–शक्ति का सामरस्य निर्दिष्ट करता है। वही है स्थिति, यही है सूर्य। गायत्री–मन्त्र जो चीज है, यह वही है। वह है—सूर्य, सविता। सविता यानी पृष्ठभूमि में जो है, और तत्त्व के अन्तर्गत जो गायत्री रूप है, इन दोनों में जरा अन्तर है। तुम्हारे यहाँ जो कला है—कला से जा रहा है—हार्द्धकला क्या है? 'ह' का अर्द्ध विसर्ग। बिन्दु विसर्ग। मतलब विसर्ग का अर्द्ध। यहाँ अर्द्ध क्यों कहा गया? इसके बाद ही अटक जा रहा है। कौन उसे अटका रहा है? 'ह' का आधा 'क्ष'। कौन अटका रहा है? 'क्ष' कूटाक्षर तक अगर पहुँच जाय तो तुम्हारे लिए एक क्षेत्र बन गया। अकार से हकार तक आने

पर अटक जाता है। इसके बाद अकार से हकार होगा। उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार अनन्त तरह के क्रम है।

अब तुम्हें किस चीज की जरूरत है? कैसे अहं तैयार होता है? अ-ह, बाद बिन्दु (ं) लगाने पर बनता है—अहं। इसी अहं को स्पष्ट करने के लिए ही सृष्टि का बीज है। यह चीज क्या है? वाक्, विसर्ग। हम लोगों का वैखरी वाक् है—अ, आ, इ, ई इत्यादि। वैखरी वाक् में किसलिए जा रहे हैं? अहं को पाने के लिए। अगर यह न मिला तो अनन्त सृष्टि भ्रमण करेगी। तब तो अहं-भाव नहीं आएगा, मुश्किल हो जायेगा। शङ्कर के वेदान्त का यही मत है—गोल-माल हो जायेगा।

प्रश्न—काम-कला विकास में कुछ प्रकाश पाया जा सकता है?

उत्तर—हम लोगों की जो प्राचीन परम्परा है, उसमें मिला है। अहं को जगाने के लिए ही शक्ति का विकास होता है, वर्ना क्या जरूरत शक्ति के विकास की? सृष्टि के पूर्व मातृकास्वरूप तो रह नहीं सकता। ऐसी हालत में सृष्टि पूर्ण कब हुई? अ से ह तक आ गये, अं को घुमा दिया तो वह अहं बन गया। इस प्रकार तुम 'ह' में थे, पुन: 'अ' में चले गये। कूटाक्षर के कारण अनन्त सृष्टि के साथ उसका मिलन नहीं हुआ।

'अ' से 'आ' निकला। 'आ' के निकलने पर एक स्फुरण हो गया। 'अ' से जब एक और 'अ' निकलता है तब स्फुरण होता है। इसी स्फुरण से इच्छा का उदय होता है। बिना स्फुरण के इच्छा नहीं आती। वह 'आ' के ऊपर है। 'अ' और 'आ' एक ही चीज है, पर 'अ' से सृष्टि नहीं होती, 'आ' के आने से क्या हुआ? 'अ' से एक अंश निकल गया। यह निकल जाने पर एक न्यूनता आ जाती है। आनन्द-अवस्था जो है, यह न्यूनता सूचित करती है—'आनन्द-अवस्था जो है, यह न्यूनता सूचित करती है—**'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'** चैतन्य से किसी चीज की सृष्टि नहीं होती, वह तो प्रकाश मात्र है। आनन्द 'आ' से होता है, आनन्द क्षुब्ध हो जाता है। इसके क्षुब्ध होने पर इच्छा का उदय होता है। इच्छा अगर उत्पन्न न हुई तो सृष्टि कैसे होगी? इच्छा का उदय होता है, फिर इशिता का उदय होता है। इसी प्रकार चलता है। यह एक अद्भुत चीज है। यह कोई व्यवस्था विशेष की भावधारा नहीं है। यह बहुत दूर की बात है। यह जहाँ की बात है, वहाँ ईश्वर-टीश्वर कुछ भी तैयार नहीं हुआ है। वह प्रकाश स्वरूप है, अभी स्फुरण नहीं हुआ है।

हम लोग जिस जगत् की चर्चा करते हैं, उस जगत् की सृष्टि किस जगह से होती है? ईश्वर से ही न? ईश्वर से सृष्टि होने के बाद वह चीज बीज बनती है। बिना ईश्वर के बीज नहीं होता। वही है काम। बीज उन्मेष है। उन्मेष अद्भुत चीज है। इच्छा से उन्मेष होता है और उन्मेष से ऊर्मि। उन्मेष क्या है? जो चीज जगत् में नहीं है? इच्छा जब है तब बीजरूप में है, जब इच्छा नहीं है तब बीजरूप भी नहीं है, केवल संभावना मात्र है आनन्द के रूप में। इसके बाद जब आनन्द में अभाव आ जाता है तब इच्छा का उदय हुआ और इच्छा के

उदय होने पर ही बीज तैयार होगा। आनन्द हैं—मातृशक्ति, विश्वमाता, जगन्माता और प्रकाश है शिवरूपी उसके ऊपरवाली चीज। आनन्द में सृष्टि कैसे होती है?

हेमन दादा ने कहा : इच्छा के द्वारा।

बाबा ने कहा : इच्छा होती कैसे है? आनन्द में और माँ के स्वरूप में। अ प्रकाश है—अ, अ इसके बाद हुआ। आनन्द में एक अभाव आ गया। इस अभाव की पूर्ति आनन्द सृष्टि के द्वारा करेगा। तभी आयेगी इच्छा। आनन्द के सहारे इच्छा का उदय हुआ। आनन्द पूर्णत्व का भण्डार है। अ वह नहीं है। अ तो पूर्ण से भी अतीत की चीज है। सृष्टि, स्थिति-संहार सब कुछ वहाँ एकाकार है। अ से सृष्टि नहीं होती। अ से आ निकलता जरूर है, पर आ बहिर्मुख है और आनन्द है पूर्णत्व का भण्डार। तुम जो कुछ चाहोगे, सब कुछ वहाँ है। इसके बाद क्या हुआ? एक अच्छा आयी। ज्योंही इच्छा आयी त्योंही सृष्टि का आरम्भ हुआ। इच्छा वास्तव में आनन्द की है। इच्छा का अपक्षेप (abject) है एषणीय। इस प्रकार एषणीय में जाओगे। दूकान में अनेक सामग्रियाँ हैं। जब तक तुम मांगोगे नहीं, मिलेगा कैसे? क्या चीज माँगोगे? यही माँगना ही अभाव है। अभाव-बोध का संकेत होना चाहिए। इच्छा सृष्टि का अङ्कुर है। बीज—सृष्टि का अतीत और आनन्द पृष्ठभूमि में है। इस वक्त तुम्हारी जो इच्छा है, कुछ भी इच्छा कर सकते हो। उदाहरण के लिए मुझे रसगुल्ला चाहिए तब मुझे रस, छेना, चीनी चाहिए। मैं तो यह सब नहीं चाह रहा हूँ। मुझे इसकी जरूरत नहीं है। उस चीज में in terms of रसगुल्ले की जरूरत है, अन्य किसी चीज की जरूरत नहीं है। यही इच्छा तुममे उत्पन्न हुई। इस प्रकार तुम्हें बीज प्राप्त हो गया। बीज पाने के बाद क्या हुआ? उस वक्त उन्मेष हुआ—उन्मेष है ज्ञान। असली ज्ञान कब आया? जब तुम इच्छा करते हो। इच्छा का अर्थ है इच्छा की अनुभूति। किसलिए इच्छा? 'स' कहो तब स प्रगट हुआ। यह 'स' कहाँ से आया? उसी पूर्ण से। यह 'स' जो चीज है वही उन्मेष है। तब उन्मेष का क्या अर्थ हुआ? जहाँ कुछ नहीं था, वहाँ प्रारम्भ हुआ। अब लोग न देख पायेंगे और न छू सकेंगे, किसी काम में नहीं आएगा। फिर भी उसका जो नाम-रूप है, वह प्रकट हो जाता है। किसके निकट प्रकट होता है? जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है। (यह ज्ञान, शास्त्र-ज्ञान नहीं। मैं उस जगह की बात कह रहा हूँ जहाँ ईश्वर नामक वस्तु नहीं आयी थी।) उन्मेष-स्थिति होने पर वे देख रहे हैं और किसी को दिखाई नहीं दे रहा है। क्यों नहीं देख पा रहा है? क्योंकि प्रकृति के गर्भ में वह आया नहीं है—यही प्रकृति के परे है—प्रकृति बहुत बाद में हुई, काफी नीचे यह पुरुषों का व्यापार है। सृष्टि कब होती है? सन्तान जब जन्म लेता है तब पुरुष के गर्भ में वीर्य के रूप में आता है, इसके बाद प्रकृति के गर्भ में जाता है। प्रकृति उसका पोषण करती है। इसके बाद निकाल देती है तब जगत् के लोग उसे देख पाते हैं।

कहने का मतलब यह है कि मैंने जब उन्मेष-अवस्था में देखा था तब मैंने अपने स्वरूप-ज्ञान के माध्यम से देखा था। कहाँ से देख रहा हूँ? ठीक आनन्द के बाहर से, क्योंकि मैं एकटक आनन्द की ओर

देखते हुए आकाङ्क्षा कर रहा हूँ, फलत: वह सृष्टि में आ गयी है। वह न तो खाने की चीज है और न देखने की। तब वह क्या है? तब क्या होगा? तुम जिस आकार को देख रहे हो, उसे उन्मेष के बाद ऊर्मि कहा जाता है। उर्मि का मतलब? ऊर्मि का मतलब यह है कि जिसे तुमने ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है, वही वस्तु जरा घनीभूत होकर आयी है। ज्ञान की उन्मुख अवस्था ज्ञेय होगा। ज्ञान और ज्ञेय एक ही वस्तु है, किन्तु इस समय वह ज्ञान रूप में है। किन्तु जब ऊर्मी होगा तब ज्ञेय आकार में होगा—ज्ञेय नहीं? पर ज्ञेय के आकार में। ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकार की वस्तु है यह। इसे विज्ञानवाद कहा जाता है, इसमें आदर्शवाद का भाव दिखाई देगा, इसमें तनिक भी भ्रान्ति नहीं है। किन्तु इसे जगत् के लोग देख नहीं पायेंगे। अतएव उनके निकट न रहने के बराबर है। इसके बाद जब ज्ञेय साधन लेकर आएगा तब तथाकथित ज्ञेय में साधन ऊनता होगी, इसके बाद प्रकृति में जायेगी। वीर्य की जो मूल अवस्था है, वह योनि में प्रवेश नहीं करता, इसीलिए प्रकृति है—ए, ऐ, ओ, औ। यही है प्रकृति। प्रकृति में फेंक में दिया जब समाप्त हुआ तब तुम्हें कुछ करने को बाकी नहीं रहा। इसके बाद प्रकृति का कार्य-व्यापार प्रारम्भ होगा इसे लेकर। तुमने गर्भ-संचार कर दिया। आगे प्रकृति इसे पुष्ट करेगी। इसके बाद पूरण होगा। तब होगा वह बिन्दु—उस वक्त गरम-गरम रसगुल्ला देखने में आएगा तब एक को क्यों, प्रत्येक को दे सकोगे। उस वक्त यह वास्तविक होगा, वास्तविक किसने किया? इसका नाम है realisation सिद्धि, उपलब्धि, विषयीकरण। प्रकृति के गर्भ में आने के बाद यह होता है। यह जो पञ्चाग्निविद्या है, वह तो यही है (पञ्चाग्निविद्या *छान्दोग्य उपनिषद्* में है)।

इस प्रकार कोई भी चीज इच्छा के तल में जब ले आओगे तब उन्मेष हो जायेगा। उन्मेष हो जाने पर तुम देख पाओगे। अगर नहीं हुआ तो समझ सकोगे कि नहीं हुआ। इसके बाद प्रकृति के गर्भ में फेंक देना। प्रकृति के गर्भ से जब वह निकलेगा तब उसे सभी देख पायेंगे। यही है—बिन्दु, समझे? बिन्दु उत्सर्ग हो गया, तब विसर्ग हो जायेगा। इसके बाद होगी नैसर्गिक सृष्टि और यही है—वैन्दव सृष्टि। *(शक्ति का जागरण एवं कुण्डलिनी)*

❑

तान्त्रिक दृष्टि में शिव एवं शिवा का सामञ्जस्य एवं रात्रितत्त्व

महामहोपाध्याय बलदेव उपाध्याय

शाक्तदर्शन में 'अद्वैत' की कल्पना विलक्षण है। सांख्य पुरुष का स्थान ले लिया 'शिव' ने तथा प्रकृति का 'शक्ति' ने। दोनों में अन्तर यह हुआ कि पुरुष के बहुत्व की जगह शिव की एकत्व कल्पना की गयी तथा जड़ात्मिका 'प्रकृति' के स्थान चिद्रूपिणी शक्ति विराजने लगी। षड्दर्शनों में शक्ति जड़ात्मिका ही है। केवल शाक्त दर्शनों में वह चैतन्यमयी स्वीकृत की गयी है। ये शिव-शक्ति एक ही तत्त्व के द्विविध रूप हैं—

स्थित्यात्मक और क्रियात्मक। शिव स्थित्यात्मक रूप है और शक्ति क्रियात्मिका है। मूल परमार्थ शिव-शक्ति का सामरस्य है। स्थित्यात्मक भाव शिव है और क्रियात्मक भाव शक्ति। चैतन्य के दो भाव होते हैं— बहिर्मुख चैतन्य की ही संज्ञा 'शक्ति' तथा अन्तर्मुख चैतन्य का ही दूसरा नाम 'शिव' है। इसीलिए शिव की संज्ञा है—**अन्तर्लीन विमर्शः**। अन्तर्मुख चैतन्य को पूर्णावस्था में न तो कोई कर्त्ता है, न कोई विषय, परन्तु बहिर्मुखावस्था में विषय ('इदं'=यह, जगत्) स्फुटित होने लगता है, पहले आत्मा (अहं) के अंशरूप में और पीछे स्वतन्त्र रूप से। 'पर संवित्' में विद्यमान 'अहं' और 'इदं' के इस क्रमशः उन्मेय से ही विश्वप्रपञ्च का उदय होता है। परन्तु मूल तत्त्व तत्त्वातीत है, क्योंकि वह शिव शक्ति की साम्यावस्था है। यही अद्वय तत्त्व है। इसी तत्त्व को भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं। शिव शक्ति की सामरस्य मूर्ति को वैष्णवगण 'युगल', बौद्धगण 'युगनद्ध', वज्रयानी तान्त्रिक 'प्रज्ञोपाय' तथा शाक्त तान्त्रिक लोग 'यामल' कहते हैं। यह मूर्ति दो होते हुए भी अद्वय है, एक है। 'अद्वय' शब्द के द्वारा भी उसका यथार्थ परिचय नहीं दिया जा सकता। वह द्वैताद्वैत उभय कोटि से भिन्न है। पृथक् तथा स्वतन्त्र है। *कुलार्णव* (1/110) में भगवान् शङ्कर के इस कथन का तात्पर्य यही है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्।।

कतिपय तत्त्वज्ञानी अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं और अन्य तत्त्वज्ञानी 'द्वैत' मानते हैं परन्तु ये लोग नहीं जानते कि मेरा तत्त्व द्वैत तथा अद्वैत दोनों से विलक्षण है। उस रूप में दोनों अनुस्यूत हैं।

भारतीय दार्शनिकों में वैदिक दर्शनों की कौन कहे। अवैदिक दर्शनों के भीतर छिपे हुए तत्त्व को भलीभाँति पहिचान कर दोनों के बीच एक प्रकाण्ड समन्वय उपस्थित करने का महान् कार्य किया है। जिसे समन्वय-बुद्धि का संकेत निम्नलिखित पद्य में है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम ही है—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः।।

दार्शनिक तत्त्वों का यह पञ्चामृत किस सहृदय के आह्लाद का कारण न होगा?

शिव तथा शिवा का सामञ्जस्य

भगवान् शिव की ही शक्ति का नाम 'शिवा' है। शक्ति एवं शक्तिमान् में अभिन्न सम्बन्ध है। इन दोनों में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं है। शिवा के स्वरूपविवेचन से पूर्व 'शिव' के स्वरूप को जानना आवश्यक है। शीङ्-स्वप्ने (सोना) धातु से वन् उणादि प्रत्यय या (**'वश् कान्तौ शिवः स्मृतः'** पृषोदरा.) से 'शिव' शब्द निष्पन्न होता है। अतः 'शिव' का अर्थ हुआ—जिसमें सब शयन करते हैं अथवा जिसके द्वारा धृत होकर सब कोई अवस्थान करते हैं या जो सबको वश में रखने वाला विश्वेश्वर है, वही सबका आधार है, जिनसे सब कुछ उत्पन्न होता है, स्थितिकाल में जिसके द्वारा धृत होता है तथा लयकाल में जिसमें सब कुछ लीन हो जाता है; वही 'शिव' हैं। परिवर्तनशील यह जगत् जिस स्थिर आधार पर शयन करता है वे ही शिव हैं। उणादिवृत्तिकार का जो कहना है, वह शिव के निर्गुण या निर्विकार रूप का प्रतिपादन है—**शेते तिष्ठति नन्दरतिभ्यां न विक्रियते'** अर्थात् '**गुणावस्थारहितः शान्तः शिवः शम्भुः।**' जिसमें सब कोई शयन करते हैं, वह शिव है—इस कथन का तात्पर्य यही है कि वे सबके आधार हैं तथा परम कारण हैं। यह जगत् उन्हीं से उत्पन्न होता है, उन्हीं पर स्थिर रहता है तथा अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है। फलतः शिव ही इस विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय के कारण हैं।

इतना ही नहीं, शिव ही निखिल विद्या और कला की मूल प्रसूति है। वे ही वेदरूप से या शब्दरूप से समग्र विद्या तथा शिल्पकला के आदि उपदेष्टा हैं। इसीलिए वाक्यपदीय के कर्त्ता महावैयाकरण श्री भर्तृहरि का शब्दविद्या के विषय में कथन हैं—

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभज्यते।। — *वाक्यपदीय* ब्रह्मकाण्ड

शिव (तथा शिवा भी, क्योंकि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है) बुद्धिरूप से—निश्चयात्मक ज्ञानरूप से—सबके हृदय में विराजमान रहते हैं। सब प्राणी श्रद्धा के द्वारा ही किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होते हैं। 'श्रद्धा' क्या है? निरुक्त के अनुसार वह निश्चयात्मिका बुद्धि की अधिष्ठात्री देवता है। निरुक्त के वचन हैं—

श्रद्धा श्रद्धानात्। तस्या एषा भवति। — *निरुक्त, 9/30*

(श्रद्धा इत्येतत्पदम् अत्र-श्रत्-इति सत्यनाम पूर्वपदम्। तदस्यां धियत इति श्रद्धा श्रद्धानं तस्मात्) अर्थात्—धर्मार्थकाममोक्षेषु अविपर्ययेणैवमेतदिति या बुद्धिः सम्पद्यते तदधिदेवता भावाख्या श्रद्धेत्युच्यते। —*निरुक्तभाष्य*

तात्पर्य यह है कि—'यह ऐसा ही है' 'इसके द्वारा यह कार्य अवश्य सिद्ध होगा' इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि की अधिष्ठात्री देवता (भावना) को 'श्रद्धा' कहते हैं। शिवजी ही इस श्रद्धा के अधिदेवता है और वे ही श्रद्धारूप से जीव को कर्म करने में प्रेरणा देते हैं। यदि चित्त मलरहित, निर्मल तथा सत्त्वगुणसम्पन्न रहता है, तभी मनुष्य शिव के आदेश को ठीक ढङ्ग से समझने में समर्थ होता है और उस आदेश का पालन करता हुआ वह कार्यों में सफल होता है। फलतः किसी व्यवसाय में यदि व्यक्ति सफल-मनोरथ होता है, तो वह शिवजी की ही कृपा का फल होता है। वेद भी भगवान् की आदि-आज्ञा रूप ही हैं। यदि भगवान् शङ्कर इस मूर्ति के द्वारा ज्ञान-विज्ञान का उपदेश न करते, तो यह त्रिभुवन अन्ध और मूक के समान हो जाता, कोई भी ज्ञान-विज्ञान सीख नहीं सकता, कला तथा शिल्प का आविष्कार तथा उन्नति नहीं हो पाती—

साक्षात् भवान् यदि न विधाय मूर्तिमाद्यां
तत्त्वं निजं तद्वदिष्यदतोऽतिगुह्यम्।
नाज्ञास्यत त्रिभुवनं ध्रुवमन्धमूकं
विश्वं समस्तमसमञ्जतामयास्यत्।। — *आगमरहस्यस्तोत्र।*

तथ्य यह है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह (कर्म) स्वतः अपना फल नहीं दे सकता। कोई जड़शक्ति उस फल को देने वाली नहीं हो सकती। यह तो चेतन-शिव की ही सामर्थ्य है कि वह उचित समय (परिपाककाल) आने पर कर्म का फल प्रदान करता है। कर्म की प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् कर्म को आरम्भ करना और कर्म को रोकना इन दोनों पर जिनकी प्रभुता है, वे ही स्वतन्त्र हैं और उन्हीं को 'कर्ता' कहा जाता है। पाणिनि का एतद्विषयक सूत्र ही है—**स्वतन्त्रः कर्त्ता।** शिवजी विश्व के कर्त्ता हैं, इसका यही तात्पर्य है कि विश्वसृष्टि के पूर्व शिव की कर्म के उत्पन्न होने में तथा विराम करने में प्रभुता अखण्डनीय है। फलतः वे परम स्वतन्त्र होने के कारण 'कर्त्ता' कहे गये हैं। शिवजी जानते हैं कि किसका कैसा कर्म है, कब किसको फल देना होगा, कब किसके कर्म का विपाककाल आ पहुँचता है—इन सबों की जानकारी 'स्वतन्त्र'—ज्ञानसम्पन्न शिव में ही विद्यमान है, अस्वतन्त्र कर्म अथवा बुद्धिहीन जड़शक्ति में नहीं। मनुष्यों के कर्म को ईश्वर फल देकर अनुगृहीत करते हैं। यहाँ अनुग्रह की जो व्याख्या ऊपर की गयी है, वह *न्यायवार्तिक* के ही वाक्यों का सारांश है—

'अपि तु पुरुषकर्म ईश्वरोऽनुगृह्णाति। कोऽनुग्रहार्थः? यद् यथाभूतं यस्य च यदा विपाककालः, तत् तथा तदा विनियुङ्क्ते इति।' — *न्यायवार्तिक।*

शिव की शक्ति का ही नाम 'शिवा' है। सांख्य-दर्शन में निर्दिष्ट प्रकृति तथा शैवागम द्वारा व्याख्यात 'शक्ति' एक ही पदार्थ नहीं है। सांख्यों की 'प्रकृति' त्रिगुणात्मिका होती है अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्— इन तीनों गुणों का समुच्चय ही 'प्रकृति' को निष्पन्न करता है। वह स्वयं 'जड़' है। यही प्रकृति या माया जगत् रूपी कार्य का उपादान कारण है उसी प्रकार, जिस प्रकार स्वर्ण स्वर्णवलय का उपादान कारण और मृत्तिका घट का उपादान कारण है। प्रकृति को अन्तराल में (मध्य में) रखकर ईश्वर जगत् का उत्पादन करते हैं। फलतः जगत् रूपी कार्य प्रकृति से उत्पन्न होता है। ईश्वर विश्व की सृष्टि में उपादान कारण है तथा उत्पादनकर्ता भी है। ईश्वर प्रकृतिरूप शरीर द्वारा जगत् का उपादान कारण है तथा चैतन्य द्वारा इसका उत्पादन कर्त्ता है। यदि केवल जड़ प्रकृति ही जगत् का कारण होती, तो जगत् जड़रूप होता। जीवों में 'मैं', 'मेरा' आदि रूप जो बुद्धि की स्फूर्ति देखी जाती है, वह कथमपि नहीं होती। इसलिये जगत् की सृष्टि में जड़ात्मिका प्रकृति की केवल मात्र कारणता नहीं है, प्रत्युत चेतन पुरुष के सान्निध्य में तथा उसके द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रकृति जगत् के उत्पादन में कारण होती है। विश्वसृष्टि के लिए प्रकृति और पुरुष दोनों का अस्तित्व मानना पड़ेगा; क्योंकि आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। प्रकृति चैतन्य के लिए पुरुष की अपेक्षा रखती है और जगत् के उपादान कारण के लिए प्रकृति की अपेक्षा होती है। प्रकृति तथा पुरुष आपस में संयुक्त हैं, सदा ही सम्बद्ध हैं। परन्तु इन दोनों का यह सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है—यष्टिधारी पुरुष तथा यष्टि के समान नहीं। दोनों का सम्बन्ध अनादि है, दोनों ही 'अज' हैं—दोनों का कभी जन्म नहीं होता। त्रिगुणात्मिका होने से श्रुति में वह तो रक्त (रज), शुक्ल (सत्त्व) तथा कृष्ण (तम) वर्ण वाली कही गयी है। *तैत्तिरीय आरण्यक* का यह सारगर्भित कथन 'प्रकृति' के स्वरूप का स्पष्ट द्योतक है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीं प्रजां सृजमानां सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणो नु शेते
जहात्येनां भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः।।

(श्वेताश्वतरोपनिषत्, 4/5; महानारायणोपनिषद्, 8/4; नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् 5/5)

शिव की शक्ति 'शिवा' प्रकृति से नितान्त भिन्न है। यह जड़ शक्ति नहीं है, प्रत्युत चैतन्य शक्ति है; चित् शक्ति है। *सूतसंहिता* शिवा का मार्मिक निरूपण करती हुई कह रही है—

सदाकारा परानन्दा संसारच्छेदकारिणी।
सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्न शिवङ्करी।।

तात्पर्य है—शिवा सदाकारा है, परम आनन्द स्वरूपिणी है, संसार का लय करने वाली है। वह परमानन्द की उत्कृष्ट देवी है—चैतन्यमयी है और शिवङ्करी है। सब प्राणियों की सुखकारिणी है। साथ-ही-साथ वह शिव से अभिन्ना है। शिव तथा शिवा का यह सम्बन्ध नैसर्गिक है। एक के बिना दूसरे की स्थिति अकल्पनीय है। बिना शक्ति के शिव एवं बिना शिव के शक्ति कभी हो नहीं सकती। ज्ञानी पुरुष वही है, जो उमा-महेश्वर के इस ऐक्याकार तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। इस विषय में *सूतसंहिता* का यह कथन यथार्थ ही है—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
उमाशङ्करयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति।।

अर्थात्—इस जगत् के भीतर जो भी वस्तु दृष्टिगोचर होती है, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि—वह सब कुछ शिवशक्तिमय है।

त्रिपुरसुन्दरी—इस जगत् के भीतर जिस श्रेष्ठतम सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है, उससे भी वह अत्यधिक सुन्दर है। इसीलिए *दुर्गासप्तशती* का मार्मिक उद्गार है—**सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वति-सुन्दरी'** (1/65) *कालिका पुराण* में भी इस अप्रतिम सौन्दर्य का निर्देश करते हुए 'ललिता' नाम का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

जगत्त्रयेऽपि यस्यास्ति सदृशी नैव सुन्दरी।
नामास्ति ललिता तेन देवी ललितकान्तिका।।

इस जगत् के भीतर दो प्रकार की वस्तुओं की सत्ता है—सत्, नित्य, आकाशादि तथा असत्, अनित्य, पृथिवी आदि। अथवा सत्—चेतनवर्ग तथा असत् अचेतनवर्ग। देवी इन दोनों की शक्तिरूपा है। इसीलिये वे अखिलात्मिका कही जाती हैं, अर्थात् वे निखिल विश्वरूपिणी हैं—

यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदासद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं कि स्तूयसे तदा।। — *दुर्गासप्तशती, 1/64*

इतना ही नहीं, शक्ति के दोनों ही रूप हैं। वे अतिसौम्य हैं, साथ-ही अतिरौद्र भी। आशय यह है कि जगत् के दोनों रूपों का समन्वय भगवती दुर्गा में है। कहा नहीं जा सकता कि वे क्या नहीं हैं। जगत् में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह उन्हीं का स्वरूप है। विशुद्ध भाव से इस शक्ति की उपासना करना ही जीव का परम कर्त्तव्य है। जग भगवान् अन्तर्लीन विमर्श होकर विराजमान रहते हैं, तब शक्तिमान् का प्राधान्य रहता है, परन्तु उस अवस्था में भी शक्ति की अवस्थिति रहती है। अवश्य ही वह सूक्ष्मरूप में रहती है। जब विश्वसृष्टि की रचना के लिए शिव की इच्छा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब सुप्तशक्ति का उद्बोधन होता है और वह इस वैचित्र्य-सम्पन्न जगत् की रचना में प्रवृत्त हो जाती है। ये शिवा ही सब कुछ हैं। ये ही माता हैं,

ये ही दया हैं, ये ही व्याप्तिरूपिणी हैं। ये चितिशक्ति हैं—जो समस्त जगत् को ज्ञानरूप से व्याप्त कर अवस्थित रहती हैं—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्। — *सप्तशती, 5/64*

वे ही 'ईशा' हैं अर्थात् '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**' समर्थ हैं। ऐसी देवी की शरण में जाने से ही जीव का कल्याण होता है। जीव को अपना अहंकार तथा अभिमान परित्याग कर इनकी शरण में जाना चाहिये, तभी उसका वास्तविक कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अन्त में काशी की अधिष्ठात्री देवी अन्नपूर्णा से हमारा नम्र निवेदन है कि वे इनको भिक्षा प्रदान कर शरणागत जीव का उद्धार करें—

आदिक्षान्तसमस्तवर्णनकरी शम्भोस्त्रिभावाकरी।
काश्मीरा त्रिजनेश्वरी त्रिलहरी नित्याङ्कुरा शर्वरी।
कामाकाङ्क्षकरी जनोदयकरी काशीपुराधीश्वरी।
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी।।

रात्रितत्त्व

इसी शिव तथा शिवा की पूजा की महनीय रात्रि 'महारात्रि' के नाम से पुकारी जाती है। यह फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को पड़ती है। यह वर्ष के अन्त की सूचना देती है। इसी रात्रि को भगवान् परमशिव अपने ताण्डव नृत्य का प्रदर्शन कर महाप्रलय की सूचना देते हैं। तदनन्तर जगत् का प्रादुर्भाव होता है और यह प्रक्रिया प्रतिवर्ष प्रतीकात्मक रूप से होती है। इस शिवरात्रि के शिवतत्त्व का वर्णन किया गया है। अब रात्रितत्त्व का दिग्दर्शन यहाँ किया जा रहा है।

रात्रितत्त्व : वैदिक विवेचन—रात्रि देवी के महत्त्व के विषय में वैदिक मन्त्रों के आधार पर कुछ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। *दुर्गासप्तशती* के भक्तों को 'रात्रिसूक्त' से परिचित होना स्वाभाविक है। रात्रिसूक्त दो प्रकार का निर्दिष्ट है। एक है तान्त्रिक रात्रिसूक्त जो सप्तशती के प्रथम अध्याय में 70वें श्लोक से 87 श्लोक तक है। दूसरा है वैदिक रात्रिसूक्त जो *ऋग्वेद* के दशम मण्डल का 127 सूक्त है जिसमें आठ मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इस सूक्त के अनन्तर ही रात्रिसूक्त का परिशिष्ट भी है जिसमें 25 ऋचायें प्राप्त होती हैं। इस स्थान पर रात्रितत्त्व का वैदिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उणादिकार के मत में रा दाने धातु से रात्रि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है—प्रदान करना। किसे प्रदान करना? और क्या प्रदान करना? *निरुक्त* के नैघण्टुक काण्ड के मतानुसार जीव दो प्रकार के होते हैं—(1) नक्तञ्चर और (2) दिवाचर। इनमें नक्तञ्चर जीवों को (जो रात्रि में विचरण किया करते हैं उनको) यह रात्रि प्रकृष्ट रूप से हर्षयुक्त करती है तथा दिवाचरों को (मनुष्य आदि दिन में संचरण करने वाले जीवों

को) इतिकर्तव्यता कर्म से निवृत्त करती है। आशय यह है रात्रि आते ही दिवाचर प्राणी अपने कर्त्तव्यों से निवृत्त होकर विश्राम करते हैं। फलत: रात्रि नक्तञ्चर जीवों को आनन्द प्रदान करती है और दिवाचर प्राणियों को विश्राम तथा आराम देती है। इसीलिए रात्रि का यह नामकरण है।

रात्रि: कस्मात्? प्रमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति।—*निरुक्त* नैघण्टुककाण्ड।

रात्रि के अन्य विश्रुत अभिधानों से भी इसी तथ्य की बात प्रमाणित होती है। क्षपा तथा शर्वरी रात्रि के ही विभिन्न नाम हैं। इसके अर्थ का विश्लेषण करती हुई निघण्टुटीका रात्रि के स्वरूप को पर्याप्त प्रकाशित करती हैं—

क्षपा[१]—इस शब्द में दो खण्ड हैं (क्ष+पा)। दिनों में अपने कर्मों द्वारा क्षीण अर्थात् श्रान्त प्राणियों को (क्ष) जो निद्रा दान कर पालन करती है (पा), वही होती हैं क्षपा।

शर्वरी[२]—नाम का ही हेतु इसी प्रकार है। रात्रि में सुप्त प्राणी पुन: नवीभूत होकर उल्लसित तथा प्रसन्न हो जाते हैं—नवीन होकर अपने कर्मों में प्रातःकाल व्याप्त हो जाते हैं। इसीलिए प्राणीगण निद्रा के लिए जिसकी शरण लिया करते हैं वही होती है—शर्वरी।

वेद में तथा वेदसम्बद्ध पुराणादि में रात्रि दो प्रकार की मानी जाती है—**जीवरात्रि और ईश्वररात्रि।** रात्रिदेवी के दो रूप हैं—रात्रि शब्द की जो व्याख्या ऊपर दी गई है इससे स्पष्ट है कि रात्रि के आगमनमात्र से जीवों के जितने कार्य हैं उन सबका जिस काल में विराम, विश्राम या अवसान हो जाता है वह तो होती है **जीवरात्रि।**

जिस काल में ईश्वर के भी सर्जन तथा पालन कर्म विरत हो जाते हैं वही होती है ईश्वररात्रि। तथ्य यह है महाप्रलयदशा में सब पदार्थों को तो सुतरां अभाव हो जाता है, उस समय केवल 'अव्यक्त' अवशिष्ट रहता है। यही अव्यक्त-ब्रह्म मायात्मक वस्तु ही विद्यमान रहता है। फलत: ईश्वर के भी कार्यकलाप के विरत हो जाने के कारण महाप्रलयदशा ईश्वररात्रि के नाम से अभिहित की जाती है। ईश्वररात्रि के रूप का प्रतिपादक *देवीपुराण* का यह पद्य महत्त्वपूर्ण है—

ब्रह्ममायात्मिका रात्रि: परमेशलयात्मिका।
तदधिष्ठातृदेवी तु भुवनेशी प्रकीर्तिता।।

महाप्रलय वाली रात्रि ब्रह्ममायात्मिका रात्रि होती है। वह रात्रि परमेश्वर के भी लय करने वाली है। उसकी जो अधिष्ठातृदेवी होती है उसी को भुवनेशी या भुवनेश्वरी नाम से पुराण अभिहित करते हैं।

---

१. स्वै: स्वै: कर्मभि: अहनि क्षीणान् प्राणिन: इमान् स्वापेन पातीति क्षपा।

२. अस्यां हि सुप्ता: पुवर्नवा इव प्राणिन: प्रात: उत्तिष्ठन्ति। शरणमस्या स्वापार्थं क्रियते इति शर्वरी। — *निघण्टुटीका।*

दिन के अवसान होने पर होने वाली रात्रि अन्धकारमय अवश्य है, परन्तु उसकी अधिष्ठातृदेवी का जो वर्णन वैदिक मन्त्रों में आता है उससे स्पष्ट है कि वह प्रकाशमयी है, सनातन द्योतनशीला है। वह स्वयं चिन्मयी है। भुवनेश्वरी देवी की अनुकम्पा से ही जीवों के सब अन्धकार दूर हो जाते हैं और वह परमतत्त्व को प्राप्त करने में सक्षम होता है। रात्रिसूक्त में जगत् की सृष्टि के तत्त्व का बड़े ही संक्षेप में वर्णन किया गया है।

जो वस्तुत: असत् है, वह सत् नहीं हो सकता, जो वास्तव में नहीं है, उसका कभी जन्म नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो 'सत्' है= वस्तुत: विद्यमान है, उसका ध्वंस या नाश नहीं हो सकता। सृष्टि तथा लय के विषय में वेद का यह परम आराध्य तत्त्व है। वैदिक शास्त्र इसी मूलतत्त्व की व्याख्या करते हैं। उस प्रसङ्ग में 'लय' या नाश तथा आविर्भाव अथवा उत्पत्ति शब्द के अर्थों को ठीक समझने की आवश्यकता है। अव्यक्त वस्तु को व्यक्त होने को या अभिव्यक्ति को, वर्तमान अवस्था में आगमन को 'उत्पत्ति' कहते हैं। √ ली धातु से 'लय' शब्द बना है जिसका अर्थ होता है नाश। 'लय' का अर्थ है अदर्शन; एकान्तिक नाश नहीं। व्यक्त को अव्यक्त भाव प्राप्त होने पर अर्थात् कर्म को कारण में लीन होने की ही संज्ञा लय है। वेद के प्रख्यात सूक्त 'नासदीय सूक्त' के अनुसार प्रलय दशा में 'नैशं तम:' का साम्राज्य रहता है। रात्रि का अन्धकार जिस प्रकार सत् पदार्थों को आवृत कर रखता है, उसी प्रकार विश्व जगत् भी तम के द्वारा आत्मतत्त्व के आवरक 'माया' नामक पदार्थ के द्वारा आवृत रहता है। प्रख्यात मन्त्र है—

तम आसीत तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।।

मनुस्मृति में भी इसी वैदिक तत्त्व का संकेत है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वत:।। —*मनुस्मृति, 1/5*

इस तम रूपी अविद्या या माया के अपसारण तथा तिरस्करण के लिए 'तप' की नितान्त आवश्यकता होती है। 'तप' को किसी भौतिक अर्थ में ग्रहण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। 'तप' का अर्थ है समीक्षण या पर्यालोचन। लयापन्न जीवों के कर्मों का परमेश्वर 'पर्यालोचन' करता है कि उनके कर्मों में कौन-सा कर्म उत्पन्न होने के लिए अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए—अभिमुख हैं। स्रष्टव्य पदार्थ कौन कर्म करके प्रकृति में लीन हुआ है इसका विचार ही 'तप' है। परमेश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वविद् ठहरा। उसका 'तप' ज्ञानमय ही है। *मुण्डक उपनिषद्* में यही तत्त्व परिस्फुरित होता है—

अथर्वसंहिता दो ही वस्तुओं को जगत् की सृष्टि करने में कारण मानती हैं—(1) एक तो स्रष्टव्य पदार्थों के कर्मों का ज्ञानरूप परमश्ेवर का तप (2) और दूसरी वस्तु प्राणियों के सुख-दु:ख —

फलोन्मुखे पुण्यपापमयं कर्म।
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तिर्महार्णवे।। —*अथर्वसंहिता, 11/10/2*

रात्रिसूक्त में पूर्वोक्त वैदिक सृष्टि तत्त्व का विवेचन संक्षेप में किया गया है। प्रथम मन्त्र पर ही विचार करें।

प्रथम मन्त्र हैं—

ॐ रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः।
विश्वा अधि श्रियोऽधित।।

महत्तत्त्वादिरूप व्यापक इन्द्रियो से सब देशों में समस्त वस्तुओं में प्रकाशित होने वाली रात्रि रूपा द्योतनशीला देवी अपने द्वारा उत्पन्न किये गये जगत् के जीवों के शुभाशुभ कर्मों को विशेष रूप से देखती है और उनके अनुरूप फल की व्यवस्था करती हुई समस्त विभूतियों को धारण करती है।

इस मन्त्र का संक्षेप में निष्कर्ष है कि यह विश्व जगत् लीन होकर 'रात्रि' में अवस्थान करता है। वही रात्रिदेवी विद्योत्तमान तत्त्व विपत्तियों को दूर करने वाली भगवती 'दुर्गा' है। प्रलयकाल में वह अपने वक्षःस्थल पर समस्त लयापन्न जीवों को धारण करती है। वही जीवों के शुभाशुभ कर्मों का ईक्षण किया करती है। (व्यख्यत्) कि जीवों के कौन-से कर्म अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। उसका यह 'ईक्षण' ब्रह्म का ज्ञानमय 'तपः' है। फलतः नाना नक्षत्रों से द्युतिमान रात्रिदेवी चिन्मयी दुर्गा ही है जो प्राणियों के कल्याण साधन के लिए इस सृष्टि का उदय करती है और इसमें विघ्न डालने वाले हैं दैत्यों और राक्षसों का स्वयं या अपनी नाना विभूति के द्वारा संहार कर देती है।

रात्रिसूक्त (मन्त्र तृतीय) की समीक्षा से प्रतीत होता है कि रात्रि देवी का उषा के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्त्र का अर्थ है कि आगमनशीला रात्रिदेवी चिच्छक्ति भुवनेश्वरी प्रकाशरूपा अपनी भगिनी उषा देवी द्वारा तम (अन्धकार या अविद्या) का नाश करती है। *ऋग्वेद* के एक-दूसरे मन्त्र में रात्रि और उषा के परस्पर रूप का बड़ा ही सुन्दर विवरण किया गया है। उषा और रात्रि 'समानबन्धू' कही गई है 'बन्धू' अर्थात् बन्धन स्थान। इन दोनों का 'बन्धन' स्थान समान है। सूर्य के अस्तमय के साथ रात्रि संश्लिष्ट है (बद्ध है) और सूर्य के उदय है प्रति उषा संश्लिष्ट है। फलतः ये दोनों भगिनी हैं। ये दोनों अमृत हैं—अमरण-धर्मा हैं। नित्य हैं। इनका कारण कभी नहीं होता। ये इतरेतर संश्लिष्ट हैं अर्थात् ये आपस में एक-दूसरे के साथ संयुक्त हैं। दिन के बाद रात्रि का आगमन होता है और रात्रि के बाद उषा का। इस कारण वे दोनों परस्पर संश्लिष्ट हैं।

दोनों समान-रूपेण प्रकाश शीला हैं—उषा अपने प्रकाश द्वारा प्रकाशशील होती है। रात्रि अपने तमोवीर्य के द्वारा अर्थात् अन्धकार शक्ति के द्वारा प्रद्योतमाना होती है। इस प्रकार दोनों का 'समानबन्धू' होना उचित ही प्रतीत होता है। ये दोनों ही परमेश की माया नाम्नी शक्ति के द्वारा आविर्भूत हुई हैं।

इसीलिए वेद इनको भगिनी शब्द से सम्बोधित करता है। चिच्छक्तिरूपा रात्रिदेवी भुवनेश्वरी नाम से प्रख्यात हैं। यही प्रकाशरूपा उषा के द्वारा अविद्या की आवरण शक्ति को निराकृत करती है। जब प्रारब्ध कर्म

का क्षय होने से विक्षेपशक्ति का भी नाश हो जाता है, तभी अज्ञानरूप तम अपगत होता है—उसकी निवृत्ति होती है। रात्रिसूक्त के इस मन्त्र का यही आध्यात्मिक तात्पर्य है—

निरु स्वसारमस्कृतोषसे देव्यायती।
अपेदु हासते तमः।। (रात्रिसूक्त 3 मन्त्र)

[निष्कर्ष—परा चिच्छक्तिरूपा रात्रिदेवी अपनी भगिनी ब्रह्मविद्यामयी उषा देवी को प्रकट करती है जिससे अविद्यामय अन्धकार स्वत: नष्ट हो जाता है।]

इसीलिए सूक्त के अन्त में भक्त रात्रिदेवी से प्रार्थना करता है—तुम दूध देने वाली गाय के समान हो, तुम्हारे समीप आकर स्तुति आदि से तुम्हें अपने अनुकूल करता हूँ। परम-व्योम-स्वरूप परमात्मा की पुत्री, तुम्हारी कृपा से मैं काम आदि शत्रुओं को जीत चुका हूँ। तुम स्तोत्र की भाँति मेरे हविष्य को भी ग्रहण करो–

इस भाव का प्रतिपादक अन्तिम (अष्टम) मन्त्र इस प्रकार है—

उप ते गा इवाकरं
वृणीष्व दुहितर्दिवः।
रात्रि स्तोमं न जिग्युषे।

इस वैदिक विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रात्रि देवी चिन्मयी प्रकाशमयी देवी है। वे भगवती दुर्गा से अभिन्न हैं। इसलिए तान्त्रिक रात्रिसूक्त के समान ही इस वैदिक रात्रिसूक्त का भी देवी उपासपना में अपना महत्वशाली स्थान है।

(भारतीय दर्शन की रूपरेखा)

आम्नायस्वरूपम्

पं. श्रीकृष्णमूर्तिशर्मा

अथास्मद्गुरुवर्यपादरेणुमकरन्दालङ्कृतनिजशीर्षप्रसूनसुगन्धो वासयति युष्माभिर्महत्प्रयत्नेन श्रद्धया दिव्यशक्तिनियन्त्रितभारतीयतन्त्रसम्मेलनस्यायोजनम्। इदानीन्तनमानुष्येऽखिलभूमण्डलरत्नतेजोत्पन्नद्युत्यालङ्कृत-धाम्ना विराजमानेऽस्मिन् कर्मभूम्याख्यभारते विशेषजन्मप्राप्त्या वयं सर्वे सर्वशक्तिमन्तः पुरा आस्म। परन्त्वधुना अधर्मस्य सम्पूर्णताण्डवयुक्तस्य लीलाविनोददर्शनेनानवाप्तसमस्तदिव्यकामाः स्मः। प्राक्तनसमये—

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्।।

इति पद्यस्यावलोकनं सत्यमभूत्। किन्तु साम्प्रतं कालस्य कुटिला गतिः, पाश्चात्त्यकलासु पारतन्त्र्याद् (केषाञ्चिद्विषये स्वातन्त्र्यादपि) लब्धप्रतिष्ठा, एतत्पूर्वं स्ववैदिकधर्मकर्मत्यागः, श्रुतिविरुद्धदर्शनार्पितसर्वस्वमित्ये-तैश्चतुर्भिः पदैरधर्मः "**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**" इति प्रकारेण स्वनृत्याकर्षणेन भारतीयानस्मान् सर्वानज्ञातकूपे पातयिष्यतीति सुदृढा शङ्का सञ्जाता।

अस्मिन्नवसरेऽस्माभिः किं कर्तव्यमित्यालोचनायाम्, जगदानन्ददोग्ध्रया गुर्वभिन्नाया आनन्दोल्लासकमल-वदनात् कटाक्षरूपेण महदनुग्रहाय निर्गता श्रुत्यभिन्ना वेदमन्त्रैस्तन्त्रितोज्जीवनकारकजागरणप्राप्त्यैव सञ्जात-सकलदुरितक्षयद्वारा अग्निं सदैवेच्छन्, वेदतान्त्रिकप्रोक्तमार्गावलम्बनेन सद्गुरुदिव्यदृष्ट्यवलोकनसंप्राप्त-दीक्षाऽभिषेकाख्यनित्यकल्याणप्रसूतसर्वसौभाग्यमाङ्ग्ल्यनाथा भूत्वा महतीगर्भितत्रिजन्मनाथित-आनन्दवृष्ट्या सुसंरक्षितोऽस्मद्भारतो नित्यकुसुमितचिरन्तनफलितः पुनरतिशीघ्रं भवेदित्यस्मच्छ्रीगुरुवर्याणामाशासनमस्म-च्चिरन्तनवैभवायात्र प्रकटीकुर्मः।

सुप्रसिद्धमिदं श्रुतिवाक्यम्—'अग्निमिक्षध्वं भारताः', 'उत्तिष्ठत, मा स्वप्त', 'पृथिवीदीक्षा' इत्यारभ्य 'सवितृप्रसूतामादिशो दीक्षयन्तु', 'वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ... हविषा वर्धयामसि', 'केवलाघो भवति केवलादी। अग्निमुखा एव देवताः प्रीणाति। अग्निं देवतानां प्रथमं यजेत्।' एतादृशा असंख्याकाः श्रुतयो ज्ञाताः खलु भवादृशैः प्रकाण्डपण्डितैः। सर्वाः श्रुतयोऽग्नीषोमात्मकमखिलमानन्दभवं विश्वम्, यस्य प्रादुर्भावेऽग्निर्नादः सोमो बिन्दुरित्येतयोर्योगस्फुरितकलां भजत इत्युद्घोषयन्ति। *हिरण्यकेशिसूत्रव्याख्याने*—'यज्ञं व्याख्यास्यामः' इति वैजयन्तीकृतवृत्त्यारम्भः।

गच्छता महता कालेन सृष्टिशक्तिप्रदिष्टस्वविकासबुद्ध्याऽस्माभिर्जगदवलोकनं न कृतम्। तदन्तर्विद्यमानाया-स्तस्या: शिवशक्तिस्वरूपरसानुभवं नावगतम्, न विज्ञातञ्च। महता प्रयासेन भण्डशक्तेरुद्दण्डानर्थक्यवशमुपागम्य कलियुगगतिप्रसारितस्यास्य विश्वस्य पराकाष्ठरूढा दिव्यानन्दजनितबुद्धिशक्ति: पाश्चात्यैरिति चेति निर्दिष्टविधिभिरुदरनिमित्ताय वञ्चिता भूत्वा विक्रयं कृता: सन्त: शक्तिमन्तोऽपि तात्कालिकनिर्बलत्वेन क्लैब्येन वा परेषां चक्षुर्विषये आत्मविषयेष्वपि प्रकाशमुपगता: स्म:।

हन्त! धिक्! यदि महर्षिभिर्गोत्रोत्पादकमहनीयैर्येषां लोहितमेकैकस्य भारतीयस्य धमनीचक्रे बहुजन्मत-पोबलादद्यापि प्रवहति, प्रवहेच्चानुष्ठितश्रुत्यान्वित आर्षधर्मस्याखण्डामृताम्नायस्वरूपप्रतिष्ठानन्दवर्ष: पूर्वगत-सप्तशतै: किं वा सहस्रवर्षै: प्रतिष्ठितदृश्यमानश्रूयमाणश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणालयेषु लब्धो विद्यते, तर्ह्यस्मिन् प्रत्यक्षनिजब्रह्माण्डेऽनेकशो नानाप्रकारैरनुभूयमानविविधाध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविकोपाधीनां कथमुद्गम: स्यात्? किं बहुना स्थिति:?

यद्यपि मेरुशिखरोपमा विविधदर्शनग्रन्था बहुभाषासु भारते तथान्यदेशेष्वप्युपलभ्यन्ते, वाराणस्यामिदानीं श्रीमतां तत्रभवतां विद्वद्भूयिष्ठसभामण्डपे उपर्युक्तप्रश्नस्योपरि पारस्परिकविचारविनिमय आवश्यको भवति, विलम्बो न कार्य:। वेदानामागमानां तथैवाम्नायानां रसोक्तिराशयश्च 'द्विपदे चतुष्पदे शंभव तु' इति अस्मद्धृदयगतं खलु। वेदमन्त्रैरग्निम्, अग्निमुखात् त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवता:, तेषां स्वरूपिणीं सृष्टिकर्त्रीं च संतर्प्य को मनुष्य: सुखी, आनन्दी च न भवेत्?

दृग्दृश्ययोरन्तरभूत आकाश एवास्मद्भारतदेश:। आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिवेति भवादृशानां विदुषां विदितमेव महाकविश्रीकालिदासस्यामृतपद्यम्। तस्मादेवाद्यप्रभृति निरन्तरविधिना श्रुत्याम्नायानामध्ययन-मनन-निदिध्यासनोपासनादिकर्मकुशलसमुद्रावगाहनजनितविचित्रवीर्यजृम्भितशक्त्यनुग्रहपात्रभूता: सन्तो भारतं सर्वैरप्यप्रतिद्वन्द्वभूषाभूषितं द्रष्टुं योग्यतां प्राप्नुम:।

एतावतेदानीमलमुपर्युक्तोपोद्घातेन। इदानीमाम्नायस्वरूपं वक्ष्याम:। मन्त्रास्त्रिविधा:—**आम्नायोदिता:, स्मृतिसूचिता:, पुराणप्रदर्शिताश्चेति**। उत्तमादिभेदेन तत्राप्याम्नायमन्त्राणां श्रैष्ठ्यम्। तत्राप्याम्नायाश्चत्वार:—ऋग्यजुस्सामाथर्वनामभि:, पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरभेदेन। पूर्वाम्नाय *ऋग्वेद:*, दक्षिणाम्नायो *यजुर्वेद:*, पश्चिमाम्नाय: *सामवेद:*, *उत्तराम्नायोऽथर्ववेद:*। आम्नाय:, श्रुति:, वेद इति पर्यायवाचका:। परमेश्वर्यास्तस्या द्वारा परमेश्वरस्य निश्वासरूपो वेद: (अत्राथर्वश्रुतिर्द्रष्टव्या)। '**यस्य नि:श्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्**' इति च। आम्नायस्तु श्रीपरमेश्वरेण तदर्थभूत: श्रीप्रियां प्रति प्रव्यक्तमुक्त:। श्रीपरमेश्वरस्य स्पष्टवचनमाम्नायनिश्वासरूपो वेद इति स्पष्टार्थ:। '**मम पञ्चमुखेभ्यश्च पञ्चाम्नाया विनिर्गता:**' इति परमशिवकण्ठोक्ति:। पञ्चदश्युपासकेभ्य: प्रदिष्टाम्नायाश्चत्वार:। एतेषु चतुर्ष्वाम्नायेषु पृथक्कृतानेकदेवतातृप्ति-सिद्धि-फलप्रदमन्त्रा: संख्यागुणिता:

सन्ति। तदुपरि विद्यमानषोडश्युपासकैरितरौ द्वौ आम्नायौ ऊर्ध्वाऽनुत्तराख्यौ अवश्यमेवानुष्ठातव्यौ यष्टव्यौ च। पूर्वोक्तपञ्चाम्नाया: सिद्धान्तान्तर्गता: शिवोदितत्वेन प्रतिपादितत्वेन च श्रुत्यभिन्ना: स्वयं प्रमाणभूता:। दीक्षायां तदङ्गत्वेन त्रैपुरसिद्धान्तं शिष्यै: स्वगुरुवर्येभ्य: श्रवणीयम्। उपरि प्रोक्तसिद्धान्तवाचक: पदस्त्रैपुरसिद्धान्त-वाचक:। सम्यगवगतं खल्वस्माभि: षट्त्रिंशत्तत्त्वैरोत:प्रोतमिदं विश्वं प्रकृत्यारभ्य शुद्धविद्याख्यानि षट्त्रिंशत्तत्त्वानि, येषां विवेचनं सृष्टि-स्थिति-लयस्वरूपं च *भार्गवकल्पसूत्रे* विशदीकृतम्, अन्यतान्त्रिक-ग्रन्थेष्वप्युपलभ्यन्ते। ऊर्ध्वाम्नाय: सिद्धान्तचरमसोपाने तिष्ठन् यद्यपि कौलात् पूर्वं विद्यते; तथापि शाम्भवपीठद्योतक: परशिवस्वरूप्रवेशानुग्रहकरोऽस्माभिर्मण्डनीयोपासनीयो भवति। अत्रेदं बोध्यम्—कलौ युगे तन्त्रेणैव पूजा कर्तव्या, श्रीललिता यष्टव्या च।

मन्त्रान् तान्त्रिकवैदिकान् परिपठन् सानन्दमत्यादरात्।
पूजां ते परिकल्पयामि जननि स्नेहात्त्वमङ्गीकुरु।

इति कल्पने तान्त्रिकवैदिकयो: समुच्चयलेखनेन तान्त्रिकत्वं वैदिकत्वमविरुद्धमभिप्रेतं स्पष्टं च। एतस्मिन्नवसरे निम्नलिखितश्रुतिगुप्ततेज:पुञ्जे यद्यन्तर्याग: कृतो भवेत्, तदा सुदृढं विश्वसिमो युष्मदायोजित-तन्त्रसम्मेलनसार्थक्यम्।

श्रीचक्रे ब्रह्मणि श्रीशिवमिथुनमये केवलेऽस्मिन् परे च
कामेशस्याङ्कदेशे विलसति ललिता केवलानन्दवल्ली।
नित्यं वो दिव्यकौलक्रमविहितरहोयागसन्तर्पिता सा
वेदानां लक्ष्यभूता वितरतु परमा मङ्गलं ब्रह्मयोनि:।।

'अन्तर्हितो हि देवलोको मनुष्यलोकात्', 'प्रजननं ज्योतिरग्निर्देवतानां ज्योतिर्विराट् छन्दसां ज्योतिर्विराट् वाचोऽग्नौ संतिष्ठते, विराजमभिसंपद्यते, तस्मात् तज्ज्योतिरुच्यते', 'प्रजामनु प्रजायसे', 'तदु ते मर्त्यामृतम्।'

आम्नाया: षट्, तेषां बाहुल्ये प्रमुखतया विलसन्ति वैदिकमन्त्रा एव विशदीकृतविविधविविधार्था:। श्रीपरमेश्वरेण स्वाम्नायेषु दयितामुपदिष्टा:, श्रीमदूर्ध्वाम्नायवर्णनेन श्रीवरवर्णिनीवदनमाह्लादितम्। इत्थं विभूत्यालङ्कृतभारतस्वर्णभूमौ विरलै: श्रीविद्यामार्गानुयायिभिर्दीक्षितैरप्यवगताश्चत्वार आम्नाया एव तेषां सपर्यायां गृह्यन्त इत्यस्मच्छ्रुतिपथमानीत:। बहूपासकै: पञ्चमाम्नाय: संपूर्णतयानवगत इत्यस्मदभिप्राय:। यद्येवं नास्ति चेत्? अहं कृतार्थो भवेयम्। लिखिता: प्रकाशिता ग्रन्था यद्यपि बहवोऽस्मिन् सुगूढविषये नोपलभ्यन्ते; तथाप्यवाप्तप्रकाशग्रन्थेषूर्ध्वाम्नायो यथाश्रुतविस्तरतां न प्राप्त:, किं बहुनानुत्तराम्नायेन। समुच्चितोर्ध्वाऽनुत्तराम्नायौ विना न कदापि ललितानित्ययाग: संपूर्णतां याति, पूर्णसिद्धिं च प्रसौति।

भगवान् परमशिवभट्टारकः श्रुत्याद्यष्टादशविद्याः सर्वाणि दर्शनानि लीलया तत्तदवस्थापन्नः प्रणीय संविन्मय्या भगवत्या भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्टः पञ्चभिर्मुखैः पञ्चाम्नायान् परमार्थसारभूतान् प्रणिनाय।

तत्पुरुषाख्यश्रीमुखेन प्रणीतपूर्वाम्नायस्त्रैलोक्यमोहनादिसर्वसंक्षोभणान्तचक्रत्रितयस्य सृष्टिचक्राह्वयस्य वर्णनमित्थं करोति—पूर्वाम्नायस्य दिक् प्राचीन ऋग्वेदेनोज्ज्वलिता। एतत् सृष्टिचक्रं पूर्वाम्नायाधिदेव्या समयिन्या उन्मोदिन्या (उन्मन्या वा) मण्डितम्। अस्मिन् सृष्टिचक्रे पूर्वाम्नाययजनं कार्यम्। भूपुरत्रयषोडशदल-अष्टदलाख्यचक्रत्रये पूर्वाम्नायदेवतां मुक्तातपत्रच्छायोपविष्टाम्, पद्मरागारुणाम्, रक्ताभरणवस्त्रानुलेपनाम्, पाशाङ्कुशवराभयकराम्, रत्नमुकुटार्पितचन्द्रलेखां ध्यात्वा, वाग्भवत्रितारीयुक्तपूर्वाम्नायबीजेन गुरुत्रयगणपति-पीठत्रयसहितशुद्धाविद्यादिसमयदेवतान्तश्चतुर्विंशतिसहस्रदेवतापरिसेवितकामगिरिपीठतर्पणं पूजनं च कार्यम्। इह गुरुत्रयं स्पष्टं संप्रदायोपदेशावलम्बनेन। गणपति-गिरिगणपति-क्षिप्रगणपतिसिद्धिगणपति-नवनीतगणपति-शक्तिगणपति-उच्छिष्टगणपति-एकाक्षरीगणपत्यादिमन्त्रोपास्तिफलप्रदः सन्नस्मिन् पीठे विराजते। पीठत्रयं तावद् ब्रह्मात्मशक्तिसहितकामगिरिपीठः, विष्ण्वात्मशक्तिसहितपूर्णगिरिपीठः, रुद्रात्मशक्तिसहितजालन्धरपीठ इति। शुद्धाविद्यादिसमयदेवतान्तान्तराले शुद्धविद्या-त्र्यक्षरीबाला-बाला-हृदयविद्या-द्वादशार्धा-राजमाताङ्गी-लघुश्यामला-हसन्तीश्यामला-शुकश्यामला-शारिका-श्यामला-वीणाश्यामला-वेणुश्यामला-कर्णमातङ्गिका-गायत्री-पूर्वोक्तगणपतिमन्त्रैर्लसितमहागणपतिः, कुमार-सुब्रह्मण्य-स्कन्द-मृत्युञ्जय-रुद्र-अमृतमृत्युञ्जय-नीलकण्ठ-समस्त-विषनाशननीलकण्ठ-नीलकण्ठरुद्र-त्र्यम्बक-मृतसञ्जीविनीरुद्र-मृतसञ्जीविनी-जातवेदाः-प्रत्यङ्गिरा-ब्राह्मीप्रत्यङ्गिरा-नारायणीप्रत्यङ्गिरा-रौद्रप्रत्यङ्गिरा-तत्पुरुष-श्री-अकाररूपसृष्टिकर्ता ब्रह्मेत्यादिसहित-कामगिरिपीठालङ्कृतसमयदेवतोन्मोदिनी-मोदमाविष्करोति यष्टृणाम्।

भगवान् परशिवभट्टारकः स्वेनाघोराख्यकमलवदनेन जगतः स्थितिजिघृक्षया दक्षिणाम्नायं प्रासूत। सर्वसौभाग्यकरादिसर्वरक्षाकरान्तं चक्रत्रयं स्थितिचक्रम्। एतद्दक्षिणाम्नायसेव्यम्। तत्र दक्षिणाम्नाययजनं कर्तव्यम्। दक्षिणाम्नायस्याशा दक्षिणा यजुर्वेदेन पुष्पिता। चतुर्दशकोणान्तर्दशारबहिर्दशाराख्यस्थितिचक्रे दक्षिणाम्नायाधिदेवतानां समयाधिष्ठात्री भोगिनीदेवी उद्यत्सूर्यसहस्राभा नानालङ्कारभूषिता रक्तवस्त्रानुलेपना वामाद्यूर्ध्वयोस्तदाद्यधःस्थयोः करयोः पाशाङ्कुशपुस्तकाक्षमालाधरेति सादरं ध्येया। एतद्दक्षिणाम्नायपीठः पूर्णगिर्याख्यः। भैरवसिद्धौघवटुकत्रयपदयुगसहितसौभाग्यविद्यादिसमयदेवतात्रिंशत्सहस्रदेवतापरिसेवितः। अत्र महादुर्मनाम्बा सुन्दर्यम्बा विश्वदलनाम्बा कपालिकाम्बा बडवाम्बा भीमाम्बा करालयम्बा खराननाम्बा विधिशालिन्यम्बा चेति सिद्धौघतर्पणप्रीताः। स्कन्दचित्रविरिञ्च्यो वटुकाः प्रकाशविमर्शाख्यं चरणं पदयुगम्। सौभाग्या बगला महावाराही आपदुद्धारणं वटुकस्तिरस्करिणी अघोरः शरभो भेतालः खड्गरावणो वीरभद्रो रौद्रमनुः शास्ता पाशुपतास्त्र-ब्रह्मास्त्र-वायव्यास्त्रदेवताभिः समुज्ज्वलितमिदं स्थितिचक्रम्। उग्रभैरव-अङ्गभैरव-अघोरभैरव-भीमभैरव-विजयभैरव-रक्तभैरव-स्वर्णाकर्षणभैरवादिभिः सुरक्षितम्। अखिललोको-

पास्यमौलिस्रक्चुतमकरन्दरेणुगौरश्रीविद्योपासकानां विशेषतो विस्मयफलप्रदप्रासाद-दक्षिणामूर्त्तिमेधा-लक्ष्मी-कीर्त्ति-ज्ञान-साम्ब-वीर-संहार-अपस्मारनिवर्तकेत्याद्यसंख्याकै: कल्याणनामरूपसिद्धिफलवितरणदक्षत्वेन स्वयं प्रकाशेन विश्वं सुस्थित्या विकासयति, कैरवचक्रवालं चन्द्र इव।

तत: पश्चिमाम्नायो विवक्ष्यते। एतदाम्नाय: श्रीसंहारावस्थापन्नस्य श्रीपरमेश्वरस्य सद्योजाताख्य-तृतीयमुखारविन्दाद्विनिस्सृत:। संहारो नाम व्यक्तसृष्टे: परिणमयित्र्यां शक्तौ लय:। परिणमयित्री शक्तिर्न केवलं संहरति; सृजत्यपि। पूर्वपूर्वावस्थासंहार एवोत्तरोत्तरावस्थासर्गो भूतानाम्। एकैव क्रिया द्व्यर्थकरीत्युक्तं भवति। 'अहमेव ... विश्वा' इत्यथर्वमन्त्रोऽत्र सूचीक्रियतेऽस्माभि:। सर्वरोगहरादिसर्वानन्दमयान्तं चक्रत्रितयं संहृतिचक्रम्। एतत् पश्चिमाम्नायसेव्यम्, यजनं कार्यं च। सामवेदोऽस्याम्नायस्य मूलत्वेन गण्यते, अस्मिन्नेवास्य प्रतिष्ठा विद्यते। पश्चिमदिशि सर्वालङ्कारसंयुक्तो निजरश्मीन् प्रसौति। नवयोनिसंज्ञके अष्टकोण-त्रिकोण-बिन्द्वाख्ये संहृतिचक्रे पश्चिमाम्नायाधिदेवतां पञ्चमुण्डासनां बालार्कसहस्रप्रभां मुण्डमालां रक्तवस्त्रा-भरणानुलेपनां वामाद्यूर्ध्वतदाद्यध: पाशाङ्कुशाभयवरकरां त्रिनेत्रां ध्यात्वा पुनर्योन्याम्बा योनिसिद्धनाथाम्बा महायोन्यम्बा महायोनिसिद्धनाथाम्बा दिव्ययोन्यम्बा दिव्ययोनिसिद्धनाथाम्बा शङ्खयोन्यम्बा शङ्खयोनिसिद्धनाथाम्बा पद्मयोन्यम्बा पद्मयोनिसिद्धनाथाम्बा चेति दूत्य:, बह्निसूर्यसोममण्डलत्रितयानि सृष्टिवीरस्थितिवीरसंहारवीररक्त-वीरयमवीरमृत्युवीरभद्रवीरपरमार्कवीरमार्तण्डवीरकालाग्निरुद्रभैरवेति वीरभैरावाष्टकं (वीरद्रव्याष्टकम्), मङ्गला-चौण्डिका-ज्येष्ठाकन्तुकिपटहा-कूर्मा-धनदा-गन्धा-गगना-मतङ्गा चम्पका-कैवर्ता-मातङ्गगमना-सूर्यभञ्जा-नभोभक्षा -स्रौतिका-रूपिका-दंष्ट्रा-धूम्राक्षा-ज्वाला-गान्धारा-गगनेश्वरा-माया-महामाया-नित्या- शान्ता-विश्वा - कामोमाश्रिया- सुभगा-विद्या-महाविद्या- अमृता-चन्द्रान्तरिक्षा-सिद्धा-श्रद्धानन्ता- शम्बरोल्का-त्रैलोक्या मलिना-प्रचण्डानङ्गा-त्रिविधाऽनभिहिता -नन्दिमहामनासुन्दरा-विश्वेश्वरा-काला-महा-भीमा-राक्षसीकाला-भयाविकारा-महाविकारा-सर्वगा-शृगाला-पूतना-शर्वरी-व्योमा-पूर्णा-नाथसिद्धा:, लोपामुद्रा-भुवनेश्वरी-अन्नपूर्णा-मातृका-कामकला-सुदर्शन-गरुड-कार्तवीर्य- नृसिंह- नामत्रयरामसीताराजगोपाल-राधाकृष्ण-गोपालविद्याप्रदकृष्णसन्तानगोपाल-गोपाल-सौरधन्वन्तरीन्द्रजालिमाया-महादेवी-इन्द्रजालिविद्या-इन्द्राग्नि-यमनिर्ऋतिवरुण-वायु-कुबेरेशानेन्द्राक्षी-सर्ववादिनीन्द्रा-दत्तात्रेयवासुदेवनारायणदेवता: पृथक् पृथगिष्ट्वा, सद्योजातमन्त्रेण सद्योजातं सन्तर्प्य, सशक्तिकं त्रितारीमुच्चार्य मकाररूपसंहारकर्त्रे रुद्राय हुत्वा, पूर्ववच्च शक्तियुक्तत्रितारीं पूर्वमुच्चार्य, दूतीदशकमण्डलत्रयवीरदशकचतुष्षष्टिसिद्धनाथसहितलोपामुद्रादिसमयदेवतान्त-त्रिसहस्रदेवतापरिसेवितजालन्धरपीठं युगपत्पूजनतर्पणेनाराध्य, पश्चिमाम्नायं समयदेवतां कुब्जिकां च यजेत।

अथोत्तराम्नायस्य निम्नलिखित—यथासमयोचितविस्तृतविवक्षा युष्मदग्रत आभाति। भगवता स्वतुरीय-मुखेन प्रणीताम्नायोऽसौ। एतस्याशोत्तरा, अथर्ववेदेन सकलीकृतम्। त्रैलोक्यमोहनादिसर्वानन्दमयान्त-चक्रनवकात्मकं समष्टिचक्रम्। एतदुत्तराम्नायसेव्यम्। अत्रैवोत्तराम्नाययजनं कर्तव्यम्।

समष्टिचक्रे भूपुरादिबिन्द्वन्तचक्रनवके उत्तराम्नायाधिदेवतां पञ्चमुण्डासनां बन्धूककुसुमारुणदेहवस्त्राभरणानुलेपनां चन्द्रचूडां मुण्डमालाधरां त्रिनेत्रां वामोर्ध्वादितदधोऽन्तं पुस्तकाक्षमालां वराभयकरां सन्ध्यात्वा, ततः सर्वसंक्षोभिण्यादिसर्वयोन्यन्तनवमुद्राः, ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिवाख्यपञ्चवीरावलयः, तुरीयाम्बामहार्धाम्बाऽश्वारूढा-मिश्राम्बा-वाग्वादिनी- वनदुर्गा- शूलिनीदुर्गा- शूलिनीजातवेदोदुर्गा-शान्तिदुर्गा-शबरिदुर्गा-ज्वलदुर्गा-लवणदुर्गा-दीपदुर्गा-सुरदुर्गा-विद्याराज्ञी-महाकाली-चण्डिका-नकुली-पुलिन्दिनी-रेणुका- लक्ष्मी वागीशा-मातृका- स्वम्बरा- ब्राह्मी-माहेश्वरी-कौमारी-वैष्णवी-वाराही-माहेन्द्री-चामुण्डा-महालक्ष्मीत्याख्याः शक्तयोऽष्टावेकैकेन यष्ट्वा, महावाक्यचतुष्टयं चाराध्य (यथाविधि) वामदेवेति मन्त्रेण वामदेवम्, अर्धमात्राकारं तिरोधानकर्तारमीश्वरं च सन्तर्प्य, मायाबीजयुक्त्या त्रितार्या सह नवमुद्रापञ्चवीरावलीसहिततुर्याम्बादिसमयदेवतान्तद्विसहस्रदेवतापरिसेवितोड्याणपीठाय पूजाऽऽहुतिं च दत्वान्ते उत्तराम्नायदेवतां कालीं यजेत्। ऊर्ध्वानुत्तराम्नायविवक्षाऽस्मच्छ्रीगुरुदम्पत्योर्विशेषाज्ञां विनाधुना पत्रपथमानेतुं न शक्नुम इति शम्।।

(सरस्वतीसुषमा, तन्त्रविशेषाङ्कः)

मुम्बापुरीस्थः।

पशुपाशविमोचिनी भगवती श्रीललिता

प्रो. श्रीकिशोरमिश्र 'यागानन्दनाथ'

'पशुपाशविमोचिनी' यह भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का अभिधान है। पशु का अर्थ है जो अभेदज्ञानरूपी विद्या से विहीन है। यह *बृहदारण्यक* श्रुति में भी उपदिष्ट है—**योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः।** त्रैपुरसिद्धान्त में 'योन्या' का अर्थ है त्रिकोण यन्त्र। इस अर्थ के लिए 'तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते' यह श्रुति प्रमाण है। इस प्रकार के पशु अर्थात् विद्याविहीनों के पिपासा और अज्ञानरूपी पाश अर्थात् प्यास और बभुक्षा को विशेषत: भगवती मुक्त करती है पा और अश् इन दो धातुओं का निर्देश पाश शब्द से है। पा और अश् से कि्वप होने पर परा अश् हलन्त से टाप् तथा दोनों के समाहार होने पर 'पाशम्' यह रूप बनता है।

(1) विद्याविहीन मात्र तृषा एवं क्षुधा की ही चिन्ता रखता है, अत: उसका पशुत्व है। एतदर्थ श्रुतिवाक्य भी है—'अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदु: श्वस्तनं न लोकालोकौ।'

(2) वेद में पशु यह अव्यय 'अच्छा' के अर्थ में भी है, जैसे '**लोधं नयन्ति पशु मन्यमाना:।**' इस मन्त्र में 'पशु' अव्यय सम्यक् के अर्थ में व्याख्यात है। इस अव्यय के अर्थ में पशु अर्थात् भलीभाँति वरुण के पाशों को मुक्त करती है। अत: भगवती पशुपाशविमोचिनी है।

(3) तृतीय अर्थ में अच्छी प्रकार से पाश अर्थात् अक्ष (पासों) को फेंकती है। इस प्रकार शिव के साथ द्यूतक्रीड़ा में अच्छी प्रकार पाशों को फलक पर फेंककर शिव को भी जीतने के कारण भगवती पशुपाशविमोचिनी है।

(4) पशुप अर्थात् परशिव की आशा, अभिलाषा जिनको रहती है वे पशुपाश अर्थात् भक्त हैं। उन साधकों को विशेष रूप से मुक्त कर शिवप्राप्ति प्रदान करने के कारण भगवती पशुपाशविमोचिनी है।

(5) ब्रह्मा से लेकर जड़ पदार्थ तक सभी पशुसमानधर्मा होने के कारण पशु कहे गये हैं। इनके बन्ध का साधन होने के कारण अविद्या ही पाश है। इस तथ्य को *सौरसंहिता* में अविद्या के नाम निर्वचन के प्रसङ्ग में 'सर्वाधारतयाधार: पाशोर्बन्धस्य हेतुता' द्वारा बतलाया गया है। अथवा उस अविद्या के विकारभूत तत्त्वादि भी पाश हैं। उनको शिवभक्ति के द्वारा मुक्त करती है अत: भगवती पशुपाशविमोचिनी है। *लिङ्गपुराण* में भी यह उपदिष्ट है—

ब्रह्माद्या: स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिन:।
पशव: परकीर्त्यन्ते समस्ता: पशुवर्तिन:।।
चतुर्विंशतितत्त्वानि मायाकर्मगुणा इति।
विषया अपि कीर्त्यन्ते पाशजीवनिबन्धनात्।
तैर्बद्धा: शिवभक्त्यैव मुच्यन्ते सर्व देहिन:।।

(6) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पञ्चविधक्लेश कहे गये हैं। आत्मानात्म के विवेचन का अभाव अविद्या है। देहादि अनात्मा में आत्मत्व की विपर्ययता अस्मिता है। इसके कारण देहोपभोगार्थ स्रक्चन्दनादि की अभिलाषा राग है। उनकी प्राप्ति में बाधक के प्रति क्रोध द्वेष है। 'यह अहितकर है' यह जानकर भी अनजान की भाँति उसको न छोड़ना ही अभिनिवेश है। *पातञ्जल योगसूत्र* में प्रथमपाद के अन्त में इसका निर्देश तथा द्वितीयपाद के पाँच सूत्रों में लक्षणादि द्वारा यह उपदिष्ट है। *देवीभागवत* में भी—

तमो विवेको मोह: स्यादन्त:करणविभ्रम:।
महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा।।
मरणं त्वन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मन:।।

यह कहा गया है। इस वचन में तम आदि अविद्या प्रभृति के ही अपरनाम हैं। मरण का तात्पर्य मिथ्याभिनिवेश है। यह अभिप्राय *लिङ्गपुराण* में भी इस प्रकार है—

अविद्यामस्मितां रागं द्वेषं च द्विपदां वर।
वदन्त्यभिनिवेशं च क्लेशान् पाशत्वमागतान्।
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रमथ पण्डिता:।
अन्धतामिस्रमित्याहु: क्लेशान् वै पञ्चधा स्थितान्।
अविद्यां तम इत्याहुरस्मितां मोह इत्यपि।
रागं चैव महामोहं द्वेषंस्तामिस्रमित्यपि।
अन्धतामिस्रकं मिथ्याभिनिवेशं प्रचक्षते।।

इन पाँच क्लेशों के प्रभेद भी पुराण में इस प्रकार उपदिष्ट हैं—

तमसोऽष्टविधो भेदो मोहश्चाष्टविध: स्मृत:।
महामोहप्रभेदास्तु बुधैर्दश विचिन्तिता:।।
अष्टौ विधास्तथा प्राहुस्तामिस्रस्य विचक्षणा:।
अन्धतामिस्रभेदाश्च तथाष्टदश कीर्तिता:।।

इन पाशों की संख्या का योग बावन है। अन्य मत में तामिस्र के भी अठारह भेद होने पर पाशों की कुल संख्या 62 होती है। वैषयिक, योगी और तत्त्वज्ञ इन तीन पशु प्रकारों के आधार पर ये कलेश उन उनके लिए विभिन्न हैं। *देवीभागवत* में निर्दिष्ट हैं—

प्रसुप्तास्तत्त्ववेतृणां दग्धदेहास्तु योगिनाम्।
अविच्छिन्नोदाररूपाः क्लेशा विषयसंगिनाम्।।

यद्यपि *कुलार्णवतन्त्र* में—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिता।।

ये पाश कहे गये हैं। परन्तु ये उपर्युक्त अविद्या आदि पञ्चक्लेशों के ही बावन प्रभेदों में से कुछ को लेकर कथन किया गया है। सम्पूर्ण भेदों का निरूपण में अधिक विस्तार होगा। भगवती के नाम में पशु शब्द उक्त विवेचनानुसार इक्यावन संख्यापरक होते हुए भी अतिसामीप्य के कारण लक्षणा से 52 का बोधक है। शारदातिलक के श्लोक '**नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमात्**' की व्याख्या में हर्षदीक्षित आदि ने इस प्रकार की लक्षणा का आश्रय लेकर एकपञ्चाशत् संख्या का बोधन किया है। अतः पशुसंख्यक 52 पाशों का विमोचन करने वाली भगवती है। शिवरहस्य में भी कहा गया है—

पञ्चक्लेशैर्द्विपञ्चाशत् पाशैर्बध्नाति यः पशून्।
स एव मोचकस्तेषां भक्त्यासम्यगुपासितः।।

इस प्रकार पौराणिक दृष्टि से यह अर्थ है।

(7) शैवागमिक दृष्टि से अणु, भेद (माया) तथा कर्म ये तीन पाश हैं। उनमें अज्ञान अणु है। इसके दो भेद हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मत्व के ज्ञान का अभाव तथा देहादि अनात्म में आत्मत्वज्ञान दोनों मिलकर आणवमल कहा जाता है। अपरिच्छिन्न आत्मा का परिच्छेदक होने के कारण इसको अणु कहते हैं। *सौरसंहिता* में कहा गया है—

आत्मनोऽणुत्वहेतुत्वादणुर्मालिन्यतो मलम्।

एक ही आत्मा के नानात्व को भेद कहा गया है। तत्त्वों की गणना में उसका मूल कारण माया नामक तत्त्व षष्ठ तत्त्व पहला तथा उससे जन्य सप्तम से लेकर छत्तीसवें तत्त्व का समूह दूसरा, ये दोनों मायीय मल कहे गये हैं। विहित तथा निषिद्ध क्रियाओं से उत्पन्न शरीर देने में सक्षम अदृष्ट ही कर्म है। पुण्य तथा पाप के भेद से ये दो मिलकर कार्मण मल कहे जाते हैं। इन अणुकर्मभेदों में उत्तरोत्तर ही पूर्व पूर्वव्याप्तता आदि प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में इस प्रकार कथित है—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वतन्त्रस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहारतः।

भिन्नवेधप्रथात्मैव मायीयं जन्मभोगदम्।
कर्तव्यबोधकार्यं तु मायाशक्त्यैव तत् त्रयम्।

शिवसूत्रवार्तिक में भी अधिक स्पष्टता से कहा गया है कि—

नन्वेवं विधविश्वस्य चैतन्यं चेद् वपुस्तदा।
कथं बन्धस्य सम्बन्ध इति शङ्कां व्यपोहितुम्।
अश्लेशश्लेषपाठाभ्यां सूत्रमाह महेश्वरः।
अज्ञानमिति तत्राद्यं चैतन्यस्फाररूपिणी।।
आत्मन्यनात्मताज्ञानं ज्ञानं पुनरनात्मनि।
देहादावात्ममानित्वं द्वयमप्येतदाणवम्।
मलं स्वकल्पितं स्वस्मिन् बन्धस्वेच्छाविभाविताः।
किमाणवमलात्मैव बन्धोऽयं नेत्युदीर्यते।।
योनिर्भेदप्रथाहेतुर्मायावर्गस्तदुत्थितः।
कालादिक्षितिपर्यन्तस्तत्त्वराशिस्तदात्मकः।।
मायीयाख्यं मलं तत्तद् भिन्नवेद्यप्रथामयम्।
कलेति कायमाविश्य परिच्छेदकरी नृणाम्।
व्यावृत्तिः पुण्यपापात्मा शरीरं यस्य तत्पुनः।
कार्मणं मलमेतस्मिन् द्वये बन्धोनुवर्तते।।

यहाँ बन्ध अर्थात् अज्ञान और योनिवर्ग कला शरीर है।

इस प्रकार के त्रिविध पाशों में एक, दो अथवा तीन से भी बन्धयुक्त जीव भी त्रिविध होते हैं तथा पशुशब्द से अभिहित हैं। यद्यपि तीन की प्रस्तारविधि से एक बन्ध वाले तीन, दो बन्ध वाले तीन तथा तीन बन्ध वाले एक इस प्रकार सप्तविध जीव होते हैं। परन्तु अणु, कर्म तथा भेद इनमें उत्तरोत्तर पूर्वपूर्व व्याप्तत्त्व का नियम होने के कारण पशुओं के प्रकार तीन ही होते हैं। *नित्याहृदय* में ये पशु शुद्ध, मिश्र तथा अशुद्ध इन संज्ञाओं से वर्णित हैं। *स्वच्छन्दतन्त्र* आदि में ये ही विज्ञान केवल, प्रलयाकल तथा सकल इन शब्दों से कहे गये हैं।

पशवस्त्रिप्रकाराः स्युस्तेष्वेके सकलामताः।
प्रलयाकलनामानस्तेषां केचिन् महेश्वरि।
विज्ञानकेवलास्त्वन्ये तेषां रूपं क्रमाच्छृणु।
अनादिमलसंछन्नो मायाकर्मावृतो विभुः।
शरीर शिवतत्त्वज्ञो भेदैकरसिको लघुः।
सर्वदा कर्म–कर्त्ता च स्वकर्मफलभोजकः।
नित्यं विषयसंरक्तः सकलः पशुरुच्यते।।

इसके अनुसार तीनों पाशों से बद्ध सकल कहा गया है। यहाँ मल शब्द अणु तथा माया शब्द भेद का बोधक है। ये पशु मलपाक तथा अपाक के आधार पर द्विविध है। इसके अन्तर्गत त्रिविध पक्वमल हैं। उनमें 108 सिद्ध हैं जो परिपूर्णशिवानुग्रह के फलस्वरूप मन्त्रेश्वरत्त्व को प्राप्त हैं। इनमें शतरुद्राख्य आठ शतमण्डली आठ क्रोधभट्टारक आदि तथा वीरेश्वर और श्रीकण्ठ ये दो हैं। अन्यों को भी आचार्यरूप से शिव ही अनुगृहीत करते हैं तथा त्रिविध अपरिपक्वमल पशुओं को भोग के द्वारा मलपाक के लिए नाना योनियों में विनियुक्त करते हैं। यह भी अनुग्रह ही है। इस सम्बन्ध में उपदिष्ट है—

मलादीनामपाके तु सामान्यानुग्रहो भवेत्।
आधिकारिकमैश्वर्यं शिवानुग्रहमात्रतः।।
पशवस्त्रिप्रकारास्तु प्राप्नुयुः परमेश्वरि।।

तथा

नानायोनिषु पाकाय नियुङ्क्तेनुजिघृक्षया।। आदि।

अणु तथा कर्म इन दो पाशों से बद्ध प्रलयाकल हैं। उन दोनों के परिपाक तथा अपाक के भेद से वे भी द्विविध होते हैं। उनमें अपाक वाले कर्म के अनुसार उत्तम योनियों में उत्पन्न होते हैं। परिपाक में जहाँ ईश्वरानुग्रह है वे भुवनेश्वर हो जाते हैं। *स्वच्छन्दतन्त्र* में कहा गया है—

मिश्राः प्रमातृरूपाः स्युः प्रलयाकलसंज्ञकाः।
पुर्यष्टकशरीराश्च पृथक् कर्मवशात् प्रिये।।
सर्वयोनिषु सम्प्राप्य भोगाद्यं स्वस्वकर्मणाम्।
भुक्त्वा भोगानि तेषां तु कर्मसाम्ये शिवः स्वयम्।
सुपक्वमलकर्माणस्तान् किञ्चिदनुगृह्य च।
जलतत्त्वादितत्त्वानां मध्ये लोकेश्वरास्त्रिधा।।

मात्र आणवमल से बद्ध विज्ञान केवल संज्ञक है। यथा—

मलमात्रेण सम्बद्धः पशुर्विज्ञानकेवलः।
सुपक्वमलविज्ञानकेवलः स स्वयं प्रिये।।

इनके भी समाप्तकलुष तथा असमाप्तकलुष ये दो भेद हैं। विद्येश्वर समाप्तकलुष हैं। असमाप्तकलुष सप्तकोटिमहामन्त्रात्मक हैं। इन महामन्त्रात्मकों के जडत्व का सन्देह नहीं करना चाहिये। शब्दरूपशरीर से जडत्व होने पर शरीरी हम लोगों के समान इनका चेतनत्व सिद्ध होता है। *मृगेन्द्रसंहिता* में कहा गया है—

अथानादिमलापेतः सर्वकृत् सर्वदृक् शिवः।
पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति।।

आगम में भी—

भुक्तिं मुक्तिमणूनां स्वव्यापारे समर्थानाम्।
जडवर्गस्य विधत्ते सर्वानुग्राहकः शम्भुः।।

अपक्व आणवमल वाले जीव होने के कारण मन्त्रों की अणु संज्ञा भी है।

इस प्रकार छः प्रकार के पशुओं के मलपाक के तारतम्य में आनन्त्य होने के कारण अनन्त भेद हैं। पशुओं के उन-उन तारतम्य के अनुसार योनिप्रदान, ऐश्वर्यप्रदान भी भोग के द्वारा मलपाकार्थ होते हैं, अतः ये पाशविमोचनरूप ही हैं। अतः उक्त प्रकार के पशुओं के पाशों को अर्थात् मलों को विशेषतः तत्तद् योग्यतानुसार मुक्त करती है इसलिये भगवती पशुपाशविमोचिनी हैं।

परन्तु पूर्वोक्तवर्णन के आधार पर मोचन शिव का कार्य है, अतः भगवती का कर्तृत्व उसमें कैसे है यह सन्देह होता है। इसका समाधान है कि मोचकत्व शक्ति के बिना शिव का उससे योग न होने पर मोचनकर्तृता शक्ति में ही स्वीकार करना अन्वय-व्यतिरेक दोनों प्रकार से उचित है। कहा भी गया है—

शक्तो यया स शम्भुर्भुक्तौ मुक्तौ च पशुगणस्यास्य।
तमेनां चिद्रूपामाद्यां सर्वात्मनास्मि नतः।।

यह भी ज्ञातव्य है कि 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इस पाणिनीय अनुशासन के अनुसार स्वातन्त्र्य ही कर्तृत्व है। **शक्तिसूत्र चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः** के आधार पर यह स्वातन्त्र्य शक्ति में है। शिवसूत्र 'चैतन्यमात्मा' में उसके स्वातन्त्र्य का निर्देश नहीं है तथा नपुंसकलिङ्ग के आधार पर कर्तृत्वादि धर्मों के अभाव का भी संकेत है। आचार्यों ने कहा है—

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुरित्याद्यसूत्रं किल शक्तिशास्त्रे।
चैतन्यमात्मेति च शैवशास्त्रे शिवश्च शक्तिश्च चिदेव तस्मात्।।

अतः यह निर्देश शक्ति-शक्तिमान् के अभेद के अभिप्राय से है। यह शैव रहस्य का निष्कर्ष है।

प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग (कला संकाय)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

ॐकारस्य स्वरूपं महत्त्वञ्च

डॉ. माधवजनार्दनरटाटे

ॐइत्येकाक्षरं ब्रह्म (गीता 8.13) इत्यादिभगवद्वचनानुसारम् ॐकार: ब्रह्माभिन्न: ब्रह्मस्वरूपश्च वर्तते।

आत्मबोधोपनिषदि (1.1.) अपि कथितमस्ति 'यत् प्रत्यगानन्दं ब्रह्म पुरुषं प्रणवस्वरूपम् अकार उकार: मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवम्, तदेतदोमिति '**यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्।**'

अनेनापि वचनेन इदमेव सिध्यति यत् ॐकार: ब्रह्मस्वरूप:। अत एव ॐकार: समग्रस्यापि प्रपञ्चस्य आदि:, आरम्भक: अधिष्ठानं लयस्थानञ्च वर्तते। 'तस्माद् वा' एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत: (2.2.1) इत्यादिरूपा तैत्तिरीयश्रुतिरपि ॐकाराभिन्नमात्मरूपं ब्रह्म एव निर्दिशति।

अयमेव ॐकार: सनातनधर्मिणाम् उपास्यानां देवतानां स्वरूपस्य मूलं वर्तते। भगवतो महागणपते: शुण्डादण्डो, मुखाकृति:, तुन्दमित्येतत्सर्वं स्वरूपं सुस्पष्टतया ॐकारे दरीदृश्यते। एवमेव भगवत: शङ्करस्य, महाविष्णो: दुर्गाया: सूर्यनारायणस्य च स्वरूपं साधकै: ॐकारे चिन्त्यते, विलोक्यते स्वीक्रियते च। ये जना: भगवन्तं सुब्रह्मण्यनामानं स्वामिनं कार्तिकेयं ध्यायन्ति पूजयन्ति च, तेऽपि आराधनीयं तं देवं सुब्रह्मण्यम् ॐकारे प्रतिष्ठितं मन्यन्ते।

एवमेव ये आधुनिका भौतिकविज्ञानवादिनो विद्वांसो नास्तिकाश्च वर्तन्ते, तेऽपि ॐकारं तद्गतं बिन्दुञ्च सर्वस्यापि भौतिकस्य जगतो मूलं स्वीकुर्वन्ति। ते तमेव बिन्दुं परमं परमाणुं सूक्ष्मदर्शनकयन्त्रेण प्रत्यक्षं कुर्वन्ति। ॐकार: पञ्चावयात्मक: इत्यपि केचन स्वीकुर्वन्ति। ॐकार: पञ्चकलात्मक: इति शास्त्रविद: पुराणानि च स्वीकुर्वन्ति प्रतिपादयन्ति च। *शिवमहापुराणे* प्रतिपादितमस्ति—

वर्णपञ्चकरूपोऽयमेवं प्रणव उद्धृत:।
त्रिमात्रबिन्दुनादात्मा मुक्तिदो जपतां सदा।।
ब्रह्मादिस्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु।
प्राण: प्रणव एवायं तस्मात् प्रणव ईरित:।।
आद्यं वर्णमकारञ्च उकारमुत्तरे तत:।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति।।
अकारस्तु महद्बीजं रज: स्रष्टा चतुर्मुख:।

उकार: प्रकृतिर्योनि: सत्त्वं पालयिता हरि:।।
मकार: पुरुषो बीजी तम: संहारको हर:।
बिन्दुर्महेश्वरो देवस्तिरोभाव उदाहृत:।।
नाद: सदाशिव: प्रोक्त: सर्वानुग्रहकारक:।
नादमूर्धनि सञ्चिन्त्य: परात्परतर: शिव:।।

—शिवमहापुराणे कैलाससंहिता 3.13-15, 21-3

अनेन शिवमहापुराणोक्तेन प्रमाणेन सुस्पष्टं भवति ॐकारस्य इमा: पञ्च कला: सन्ति: —(1) अकार:, (2) उकार:, (3) मकार:, (4) नाद:, (5) बिन्दु:।

योगिनां मते ॐकार: नादब्रह्मात्मको वर्तते। हठयोगिनां मते अनाहतनादरूपो वर्तते। इदानीं तस्य एतस्य ॐकारस्य विषये तत्तच्छास्त्रमनुसृत्य विचार: प्रस्तूयते—श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रानुसारमुपनिषदनुसारं वा ॐकार: सर्वेषां वेदानामादि: भगवत्स्वरूपश्च वर्तते। भगवता श्रीकृष्णेन (गीतायां 7.8) कथितमपि—**प्रणव: सर्ववेदेषु।**

मनुस्मृतौ कथितमस्ति—

अकारं चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापति:।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुव: स्वरितीति च।। — 2.76

द्विज: पूत: सन् ॐकारमुच्चारयितुमर्हति इत्यपि तत्रैवोक्तम्—

प्राक्कूलान् पर्युपासीन: पवित्रैश्चैव पावित:।
प्राणायामैस्त्रिभि: पूतस्तत ॐकारमर्हति।। *—मनुस्मृति: 2.75*

यद्यपि केचन वदन्ति यत् ॐकार: विरक्तानामेव उपास्योऽस्ति, परन्तु *ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य रत्नप्रभाटीकायां* (1.1.1) स्मृत्यात्मकं प्रमाणमुपस्थाप्य गोविन्दानन्दभगवत्पादै: ॐकारो माङ्गलिक:, इति प्रतिपादितम्। तद् यथा—

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मण: पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाविमौ।।

अत एव, ॐकार: गृहस्थैरपि उच्चारयितुं शक्य इति फलितं भवति। पूर्वमीमांसाशास्त्रानुसारं तेषु तेषु अनुष्ठानेषु अनेकत्र पठ्यमानेभ्यो मन्त्रेभ्य: प्राक् ॐकारो योज्यते। ॐकारं विना मन्त्रेषु विशिष्टं बलं नायाति, इति मन्त्रविदां मतम्। *मेरुतन्त्रे* (पृ. 14) उक्तम्—

तारामायापुरा: सर्वे जप्तव्या: केवला न हि।।50।।

अत एव पठ्यमानो मन्त्र: 'हरि: ॐगणानां त्वा.' इत्यादि रूपेण प्रारभ्यते। एवमेव सङ्कल्पादौ अपि 'ॐ विष्णवे नम:' इत्यादि पठ्यते।

ब्राह्मणा: अन्येऽधिकारिणो वा गायत्रीमन्त्रस्य उच्चारणात् प्राक् ॐकारसहिता व्याहृती: उच्चारयन्ति। सर्वस्य जगत्प्रपञ्चस्य आदिरपि ॐकार एव इति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। ॐकारविषये *श्रीमद्भागवते* तेषु तेषु स्थानेषु अधो लिखितानि वचनानि उपलभ्यन्ते—

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मन:।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ॐकारे बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम्।। 7.15.53

एक एव पुरा वेद: प्रणव: सर्ववाङ्मय:।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च।। 9.14.28

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं विसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुन: संवेशयेत् स्वरम्।।
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिल:।। 11.14.34-35

वेद: प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं माँ मुक्तकिल्बिषा:।। 11.17.11

व्याकरणशास्त्रनुसारमपि ॐकार: सर्वस्यापि वाक् प्रपञ्चस्य मूलमस्ति। तैस्तैर्वैयाकरणै: ॐकारविषये स्वस्य ग्रन्थे विचार: कृत:। दिग्दर्शनार्थं प्रमाणमेतत् वाक्यपदीयान्तर्गतं पद्यं प्रस्तूयते—

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी।। —*वाक्यपदीयम् 1.9*

इदानीं योगशास्त्रानुसारमोङ्कारविषये विवरणमुपस्थाप्यते। महर्षिणा पतञ्जलिना-तस्य वाचक: प्रणव: (*योगसूत्रम्* 1.27) इत्यस्मिन् सूत्रे ॐकार: ईश्वरस्य वाचक: ईश्वरश्च ॐकारस्य वाच्य:, इति प्रतिपादितम्।

अधुना अद्वैतवेदान्तानुसारमोङ्कारस्य महत्त्वं प्रस्तूयते—*छान्दोग्योपनिषदि* (1.4.1) ॐकारस्य उपासना परब्रह्मसाक्षात्कारे महती उपयोगिनी इति स्पष्टं प्रतिपादितमस्ति—**'ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत।'**

कठोपनिषदि (1.2.15-17) कथितमस्ति—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

एतादालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।

प्रश्नोपनिषदि (5.12) अपि वर्तते—**अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोक जयतीति तस्मै स होवाच।।1।। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार। तस्माद् विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति।।2।।**

तस्यामेव उपनिषदि (5.7) अग्रेऽपि कथितं वर्तते—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति।।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।[1] 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।'[2] *माण्डूक्योपनिषदि* अपि कथितम्—**'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत तदप्योङ्कार एव।'**[3]

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।[4]

'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद।'[5]

तैत्तिरीयोपनिषदि अपि कथितं वर्तते—ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। 'ॐ' इत्येदनुकृतिर्हस्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति।

ओमिति सामानि गायन्ति। ॐ शमिति शास्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।[6]

श्वेताश्वरतरोपनिषदि अपि कथितमस्ति—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोमयं वै प्रणवेन देहे।। 1.13

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।। 1.14

ब्रह्मविद्योपनिषदि (मं 2) अपि कथितमस्ति—

'ॐ' इत्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
कांस्याघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता। – *ब्रह्मविद्योपनिषद् म. 12*

त्रिशङ्खं वज्रमोङ्काराध्वनालं मूवोन्मुखिम्।
कुण्डलीं चालयन् प्राणान् भेदयन् शशिमण्डलम्। —— *तदेव, मं. 74*

क्षुरिकोपनिषदि अपि कथितं वर्तते—

मात्रा द्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः। —(मं. 3)

योगतत्त्वोपनिषदि अपि कथितं वर्तते—

दीर्घप्रणवसन्धानं सिद्धान्तश्रवणं तथा। — (मं. 27)

(तदीयः) दर्शनशास्त्रविचारनामकस्तरङ्गः

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतात्रया। — (म. 63)
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा।। — (म. 34)

एवमेतावत्पर्यन्तं प्रस्तुतैस्तैस्तैः सनातनधर्मसम्मतग्रन्थोक्तैः प्रमाणैर्विविधाभिर्युक्तिभिश्च ओङ्कारस्य लौकिकं वैदिकं पारलौकिकञ्च परमं महत्त्वं सिद्धं भवति।

सन्दर्भाः

1. *मुण्डकोपनिषद्*, 2.2.4
2. *मुण्डकोपनिषद्*, 2.2.6
3. *माण्डूक्योपनिषद्*, (मं. 22)
4. *माण्डूक्योपनिषद्*, (मं. 8)
5. *माण्डूक्योपनिषद*, (मं. 12)
6. *तैत्तिरीयोपनिषद्*, वल्ली-1 अनुवाक 8

सहायक आचार्यः, धर्मशास्त्रमीमांसाविभागः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः वाराणसी-221005

चलवाणी-933564126

लक्ष्मीतन्त्र में श्रीसूक्त के नामों का निर्वचन तथा मन्त्र निर्धारण

डॉ. हर्षदेव माधव

इन्द्र ने देवी लक्ष्मी से प्रार्थना की—'हे विश्व की उत्पत्ति की कारणभूत! आप को नमस्कार। आप विश्व विभूतिरूपा हैं। आप सर्वसिद्धियों की मूलभूत हैं। आप विष्णु की प्राणवल्लभा हैं। आप नारायण की कुटुम्बिनी हैं। हे समस्त जगत् की आराध्य देवी! आपको नमस्कार। मैं आपके मुखकमल से नि:सृत श्रीसूक्त की सम्पूर्ण विधि जानना चाहता हूँ। मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मुझे श्रीसूक्त का रहस्य समझाइए।' तब देवी लक्ष्मी ने *लक्ष्मीतन्त्र* में पचासवें अध्याय में श्रीसूक्त के संदर्भ में कहा।

लक्ष्मीजी ने कहा कि इस स्थावर और जंगम जगत् के एकमात्र स्वामी नारायण हैं। वे समस्त लोगों की आत्मा हैं। वे ऐश्वर्य, वीर्य, ज्ञान और तेज आदि गुणों से युक्त हैं। वे सबका कारण हैं, ईश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वकार्यकर्ता हैं। उनकी एकमात्र परमशक्ति मैं हूँ।

शक्तिमान् सकलाधार: सर्वशक्तिमदीश्वर:।
तस्याहं परमशक्तिरेका श्रीर्नाम शाश्वती।। — *लक्ष्मीतन्त्र, 50.8*

मैं सर्वस्था दोषरहित तथा विभु की सर्व कामनाएँ पूर्ण करने वाली हूँ। मैं शुद्धाशुद्ध रूप इस प्रपञ्च की अवलम्बन आधार रूप हूँ। हम संसार के जीवों को सुखी करने के लिए शब्दब्रह्मरूप महासमुद्र का मन्थन करते रहे, तदर्थ सोम, ऋक्, यजु: समुदायरूप महासागर के मन्थन में से दो दिव्य सूक्तों—पुरुषसूक्त और श्रीसूक्त की उत्पत्ति हुईं। ये सूक्त अनाहत, असन्दिग्ध, अत्यन्त स्पष्ट और अनश्वर हैं।

पुरुषसूक्त और श्रीसूक्त सर्वैश्वर्य और सर्वगुणों से संयुक्त है। उनके पद और अक्षर अत्यन्त स्पष्ट हैं। श्रीसूक्त मेरी महिमा से प्रतिष्ठित होने के कारण उनकी द्रष्टा मैं हूँ तथा श्री प्रतिपाद्य होने के कारण मैंने श्रीसूक्त को स्वीकार किया है। पुरुषसूक्त और श्रीसूक्त के शब्दों और अर्थों का विचार करने वाले मनुष्यों को परम गति मिलती है। कल्पवेत्ता पुरातन शौनकादि मुनियों ने उसके विहित विधानों का निर्माण किया है। ये सूक्त साधन दशा में हजारों सौभाग्य प्रदान करते हैं, तो सिद्ध होने के पश्चात् तो क्या कहना?

श्रीसूक्त की ज्ञातव्य जानकारी

लक्ष्मीजी ने कहा कि मैं श्रीसूक्त की ऋषिका हूँ। उसका छन्द श्रीछन्द है। उसके पिता सम्पूर्ण जगत् की आधारभूत सर्वेश्वरी विष्णु पत्नी मैं ही हूँ। लक्ष्मीनारायण की अर्चना में उसका विनियोग करें।

देवी का ध्यान— **वामेनालिङ्गितां शश्वद् बाहुना परमात्मना।**
तदंसलग्नबाहुं च दिव्यपङ्कजधारिणीम्।
अर्थमामर्चयेदृग्भिः प्रयतः परमेश्वरीम्।
वामोत्सङ्गनिषण्णां मां देवदेवस्य शार्ङ्गिणः।। — *लक्ष्मीतन्त्र, 50.23-24*

परमात्मा के वामबाहु से आलिङ्गित, परमात्मा के कंधे पर जिसने हाथ रखा है, वह दिव्य पङ्कज को धारण करने वाली, विष्णु के वामाङ्ग में विराजमान, परमेश्वरी का ध्यान धर के साधक को चाहिए कि एकाग्रचित्त से श्रीसूक्त की ऋचाओं से मेरा अर्चन करें।

श्रीसूक्त का पूजन

1. श्रीसूक्त की प्रथम ऋचा से आह्वान करना।
2. दूसरी ऋचा से देवी को आसन देना।
3. तीसरी ऋचा से अर्घ्य और पाद्य प्रदान करन।
4. चौथी ऋचा से आचमन करना।
5. पाँचवीं ऋचा से उपहार प्रदान करना।
6. छठी ऋचा से लक्ष्मीनारायण को स्नान करवाना।
7. सातवीं ऋचा से वस्त्र प्रदान करना।
8. आठवीं ऋचा से आभूषण प्रदान करना।
9. नौवीं ऋचा से गन्ध प्रदान करना।
10. दसवीं ऋचा से पुष्पमाल्यार्पण करना।
11. ग्यारहवीं ऋचा से धूप देना।
12. बारहवीं ऋचा से दीपदर्शन करना।
13. तेरहवीं ऋचा से मधुपर्क प्रदान करना।
14. चौदहवीं ऋचा से नैवेद्य प्रदान करना।
15. पन्द्रहवीं ऋचा से नमस्कार करके अन्त में ह्रीं श्रीं बोलना।

अन्य रीति द्वारा श्रीसूक्त से अर्चन

पक्षान्तर पर श्रीसूक्त द्वारा लक्ष्मीजी की पूजा का कथन भी स्वयं लक्ष्मीजी बतलाती हैं, तदनुसार—

प्रथम चार ऋचाओं द्वारा आह्वान करना।

पाँचवीं ऋचा द्वारा शुद्ध चित्त से शरणागति स्वीकार करना।

'आप: स्रजन्तु' बारहवीं ऋचा द्वारा अर्घ्य, पाद्य और आचमन आदि करना।

'आर्द्रां पुष्करिणी' तेरहवीं ऋचा द्वारा लक्ष्मीजी को स्नान कराना।

'कर्दमेन प्रजा:' ग्यारहवीं ऋचा द्वारा वस्त्रोपवस्त्र समर्पण करना।

'गंध द्वारां' नौवीं ऋचा द्वारा गन्ध और 'उपैतु' तथा 'देवसख:' सातवीं ऋचा द्वारा अलंकार अर्पण करना।

'कांसोऽस्मितां' चौथी ऋचा द्वारा दीपदर्शन करना।

'आदित्य वर्णे' छठी ऋचा द्वारा उपहार देना।

'मनस: काममाकूतिं' दसवीं ऋचा द्वारा मधुपर्क अर्पण करना।

'क्षुत्पिपासामलां' आठवीं ऋचा द्वारा नैवेद्य देना।

'तां मा आवह' पन्द्रहवीं अन्तिम ऋचा से देवी को नमस्कार करना।

श्रीसूक्त में लक्ष्मीजी के तिरपन नाम और उनका निर्वचन

1. **हिरण्यवर्णा**—हि अर्थात् निहित। लक्ष्मीजी कहती हैं कि मैं पलभर में शत्रुओं का संहार करके तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप में भ्रमर जैसा नाद करने वाले सूर्य और चन्द्र में स्थित रहती हूँ, इसीलिए मुझे हिरण्या कहते हैं। **वर्णा :** मैं आधार शक्ति से द्वादशान्त में जाकर उदीयमान हजारों सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा के वर्ण के समान हो जाती हूँ। इसीलिए हिरण्यवर्णा हूँ। आधार चक्र से ऊपर की ओर उठकर वायुवेग से शान्ता (पर) पश्यन्ती और मध्यमा से वैखरी वाणी को प्राप्त करके कण्ठ आदि आठ स्थानों (कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि) में निवास करने वाली मैं समस्त वर्णों की माता हूँ। शब्द धेनुस्वरूप गौ (वाणी रूपी गाय) होकर अनेक भागों में दूध के रूप में प्रस्तुत करती हूँ। ऐसी उदात्त बुद्धि वाले प्रजापति ने 'हिरण्यवर्णा' शब्द से मेरी स्तुति करके मेरी प्रसन्नता से योगधर्म का निरूपण किया।

मन्त्र : 'ॐ हिरण्यवर्णायै नम:' यह मेरा नवाक्षर मन्त्र है। यह शब्द ब्रह्ममय है, जो योगियों के योग के लिए साधक है।

2. **हरिणी**—

1. मै हिरनी की तरह योगियों के मन से निकलकर खूब दूर तक चली जाती हूँ।
2. हृ धातु बाँधने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। नियम वाला योगी अपनी भक्ति द्वारा अपने हृदय में मुझे बाँध लेता है, इसलिए मैं हरिणी हूँ।

3. मुझमें तल्लीन अड़सठ हजार योगी मेरा ध्यान करके प्रत्याहार (मोक्ष) प्राप्त करते हैं अत: मैं हरिणी हूँ।
4. मैं हिरन के चर्म से आच्छादित रहती हूँ इसलिए मैं हरिणी हूँ। हिरन के चर्म पर बैठती हूँ, इसलिए मैं हरिणी हूँ।
5. मेरा मध्यभाग हरि से आश्लिष्ट है, इसलिए मैं हरिणी हूँ।
6. मेरे नेत्र हरिणी जैसे हैं, इसलिए मैं हरिणी हूँ।
7. मेरा हरिणी के रूप में ध्यान करके लोगों को शान्ति मिलती है, इसलिए मैं हरिणी हूँ।
8. मैं समस्त कार्यों में हरि का उपयोग करती हूँ, इसलिए मैं हरिणी हूँ अथवा हरि सर्व कार्यों में मेरा विनियोग करते हैं, इसलिए मैं हरिणी हूँ।
9. मेरे शरीर की कान्ति हरिणी के समान है, इसलिए मैं हरिणी हूँ।
10. मैं सज्जनों के पापों का हरण कर लेती हूँ इसलिए हरिणी हूँ।

मन्त्र : **'ॐ हरिण्यै नम:'** ऐसा षडक्षर मन्त्र बनता है।

3-4 सुवर्णरजतस्रजा:—यहाँ 'सुवर्णस्रजा' और 'रजतस्रजा' जैसे दो नाम हैं।

सुवर्णस्रजा—

1. मेरी माला सुवर्णवर्ण वाले कमलों से गुँथी हुई है, जो योगियों के लिए साधक तथा योगसाधना के कार्य में सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए मैं सुवर्णस्रक् हूँ।
2. मैं शोभन वर्णों (सु-वर्ण) का सर्जन करती हूँ अथवा मैं भलीभाँति विश्व (विष्णु) का वरण करती हूँ अथवा इस विश्व को मैं अपने निवास स्थान के लिए वरण करती हूँ। इसलिए मैं सुवर्ण हूँ।

'स्रक्' का निर्वचन—मैंने अनेक बद्धमुक्त रूप माया का निर्माण किया है इसलिए मैं 'स्रक्' हूँ। कुबेर ने मेरू पर्वत पर दीर्घ समय तक रहकर ॐ सुवर्णस्रजे नम: इस प्रकार सुवर्णस्रक् नाम से मेरा उपस्थान कर के कुबेर पद प्राप्त किया था।

रजतस्रजाम्—'रजत' शब्द 'राजते' (शोभित होना) से जुड़ा हुआ है। मेरी माला कमलों से शोभित होती है अथवा मेरी माला स्वयं शोभित होती है अथवा जगत् ससके स्रष्टा मेरे द्वारा निर्मित होने के कारण माला की तरह शोभित होते हैं, इसलिए मैं 'रजतस्रक्' हूँ। एकादश रुद्रों के अधिपति महादेव ने 'रजतस्रजाम्' नाम से मेरा उपस्थान करके कैलाश पर अधिष्ठित होकर रजताधिपतित्व प्राप्त किया था, इसलिए मैं 'रजतस्रक्' हूँ।

मन्त्र : 'ॐ सुवर्णस्रजे नम:', 'ॐ रजतस्रजे नम:' ऐसे आठ-आठ अक्षरों के दो मन्त्र बनते हैं। इनके जप, अर्चन, हवन एवं ध्यान मात्र से सर्व अभीष्ट प्राप्त होते हैं।

5. चन्द्रा—मैं योगियों की अन्तरात्मा में आनन्द स्पन्दन के लक्षण से युक्त होकर उदित होती हूँ। योगियों की तुरीयावस्था को मैं स्वयं चन्द्रमा के समान भासित करती हूँ, मैं ऐसी चन्द्रा हूँ। वशिष्ठ मुनि योग में अन्तराय आने के कारण योग में अवरुद्ध हो गये तब योग में चिदानन्द महोदधि में स्थित शुद्ध चन्द्रमयी नाड़ी में निवास करने वाली मेरा ध्यान धरकर पुन: अपने योग को प्राप्त किया।

मन्त्र : अत: मेरा षडक्षर मन्त्र **'ॐ चन्द्रायै नम:'** आनन्दप्रद और संसार के त्रिविध ताप से तापित मनुष्य को अत्यन्त सुख प्रदान करने वाला मन्त्र है।

6. हिरण्मयी—मूलाधार से आरम्भ करके द्वादशान्तपर्यन्त मैं हिरण्मयी के रूप में सूर्य की किरणों के समान भासित होकर सतत उदित होती हूँ। अत: शब्द संकल्प करने वाले मुझे हिरण्मयी कहते हैं। मैं हिरण्मय प्रकृति से परम व्योम में त्रयीमयी मण्डल में जगत्-कल्याणार्थ निवास करती हूँ। इसलिए वेदपारगामी मुनि मुझे हिरण्मयी नाम से पुकारते हैं। योगी इस नाम की स्तुति करके उत्तम योग प्राप्त करते हैं।

मन्त्र : 'ॐ हिरण्मय्यै नम:' यह सप्ताक्षर मन्त्र सर्व मनोरथों को पूर्ण करता है।

7. लक्ष्मी—

1. 'लक्ष्'—दर्शनार्थ धातु—मैं सर्व प्राणियों की साक्षिणी हूँ और उनके शुभाशुभ का ध्यान रखती हूँ।
2. मैं भगवान् विष्णु की सम्पत्ति हूँ, इसलिए मैं लक्ष्मी हूँ।
3. लक्ष्य के साथ भी लक्ष्मी शब्द जुड़ा हुआ है। मैं सर्व प्रमिति (ज्ञान) का लक्ष्य हूँ, इसलिए मैं लक्ष्मी हूँ।
4. लक्ष्मी में 'क्षिप्' धातु भी है। मैं ही दानकर्ता को तीन बार प्रेरणा प्रदान करती हूँ। क्षिप् धातु प्रेरणार्थक है।
5. लक्ष्मी के मी में मिति—'माङ्माने शब्द च' धातु है। मैं ज्ञानस्वरूप लक्षण से जानी जा सकती हूँ। इस प्रकार लक्ष्मी ला दाने, क्षिप्र-प्रेरणे धातु से निष्पन्न है।
6. लक्ष्मीजी के साथ (ली-लये) लय का अर्थ भी है। लक्ष्मीजी कहती हैं कि मैं जगत् के सर्जन, स्थिति और संहार के लिए प्रकृति को प्रेरित करती हूँ। मैं सर्व लक्षणात्मक भावों की प्रेरक हूँ, इसलिए मैं लक्ष्मी हूँ।
7. ली 'लक्ष' और लामि-लीना भवामि के साथ भी संयुक्त अव्यक्त और व्यक्त सत्त्वों (प्राणियों) में रहकर सदैव उन्हें प्रेरित करती हूँ, इसलिए मैं लक्ष्मी हूँ। मैं अपने को लक्ष तक पहुँचाती हूँ और अन्त में उस (विष्णु) में लीन हो जाती हूँ और प्रेरणा देती हूँ, अत: मैं लक्ष्मी हूँ।
8. क्षि-क्षिप् क्षप्, क्षमे, मि-मा, मन् के साथ जुड़ा हुआ है। मैं अपने आपको प्रेरित करती हूँ, सज्जनों के पापों को नष्ट करती हूँ, सबकी गति हूँ। सबको क्षमा करती हूँ, क्षमा स्वरूप हूँ। सर्व प्राणियों का संहार करती हूँ, सबकी गति हूँ, सबका मान करती हूँ। सबको प्रमाणित करती हूँ, इसलिए लक्ष्मी हूँ। मेरे इन अर्थों को देखकर ही उदार बुद्धि वाले कपिल ने स्तुति करते हुए कहा था—'हे लक्ष्मी मेरी ओर कृपा कटाक्ष करके देखिए।'

मन्त्र : 'ॐ लक्ष्म्यै नम:' यह पञ्चाक्षर मन्त्र पाताल तक पहुँचने की गति देता है। यह दिव्य अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर्यन्त समस्त भागों का साधन है।

8. **अनपगामिनी-अनपायिनी**—मैं ज्ञानमय शरीर से विष्णु के हृदय में निवास करती हूँ। मैं विष्णु को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहती हूँ—अनपायिनी या अनपगामिनी हूँ। (विष्णोरनपायित्वात्) यह पुण्य आत्मज्ञान है। जिस प्रकार सर्व प्रकाशों की शक्ति चन्द्रमा में एकत्रित होकर स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार शक्तिमान् महाविष्णु की शक्ति भी मेरे में स्थित है। मैं अनपायिनी हूँ।

'अनपायिनी' नाम का अपना एक इतिहास है—मैं अकेले ही (सिर्फ मैं ही) महान् गुणों से युक्त द्रवरूप होकर जल रूप में परिणत हो जाती हूँ। बहुत पहले मैं विश्वामित्र के कहने से सरस्वती नदी बनकर महामुनि वशिष्ठ को अपने जल में बहा ले गई थी, क्योंकि सरस्वती सत्यसन्धा है। सरस्वती के जल में बहते वशिष्ठ को देखकर मुनियों ने सरस्वती स्वरूप मुझसे कहा—'हे भगवती सरस्वती! आपकी तरह महर्षि भी सत्यप्रिय हैं अत: विश्वामित्ररूपी शत्रु से महर्षि वशिष्ठ की रक्षा कीजिए।' इसलिए मैं सरस्वती के रूप में वशिष्ठ को जल में से बाहर निकालकर उनकी रक्षा की थी। इसलिए महर्षियों ने मेरा नाम अनपगामिनी रखा है। (तं वसिष्ठं शात्रवादपोवाह अपवाहयम्, अपसारयमित्यर्थ:)

मन्त्र : 'ॐ अनपगामिन्यै नम:' नवाक्षर मन्त्र बनता है। यह मन्त्र सर्व आपत्तियों को दूर भगाता है।

9. **अश्वपूर्वा**—बुद्धि प्राण और शरीर में मैं अश्वापूर् और वाहिनी हूँ। मैं बुद्धि वगैरह पुरों में (नगरों में) अश्वरूपा और पूरपा=वाहिनी रूपा हूँ। मैं वहाँ तद्रूपों में निवास करती हूँ। बुद्धि को अनेकानेक विषयों के प्रति आकर्षित करके दौड़ती हूँ, इसलिए मैं अश्वा हूँ। प्राण में निवास करने के कारण 'पू:' हूँ और आत्मा बनकर शरीर का वहन करती हूँ, इसलिए मैं वाहिनी हूँ। **(बुद्धिं नानाविषयेषु आकृष्य धावनात् अश्वा। प्राणावासस्थानभूत पू:। आत्मतया शरीर वहनात् वाहिनी। अत: अश्वपूर्वा नाम)** इस प्रकार बुद्धि, प्राण और शरीर इन तीनों में तीन रूपों में निवास करने के कारण मैं अश्वा, पू: और वाहिनी हूँ।

अश्वरूपा का दूसरा अर्थ—मैं योगारम्भ के समय सबसे पहले घोड़े की तरह हेषारव (हिनहिनाहट) करती हूँ, इसलिए अश्वा हूँ।

मन्त्र : 'ॐ अश्वपूर्वायै नम:' मन्त्र बनता है।

10. **रथमध्या**—मैं नाड़ी मध्य में पहुँचकर रथ के समान ध्वनि उत्पन्न करती हूँ, इसलिए मैं 'रथमध्या' के नाम से जानी जाती हूँ।

मन्त्र : 'ॐ रथमध्यै नम:' अष्टाक्षर मन्त्र बनता है।

11. **हस्तिनादप्रबोधिनी**—मैं जब व्योमरन्ध्र में पहुँचती हूँ तब हाथी की तरह चिंघाड़ती हूँ, इसलिए मैं 'हस्तिनादप्रबोधिनी' कहलाती हूँ।

मन्त्र : 'ॐ हस्तिनादप्रबोधिन्यै नम:' एकादशाक्षर मन्त्र बनता है।

मुझे पाने को यत्नशील महामुनियों ने इस प्रकार 'अश्वपूर्वा', 'रथमध्या', 'हस्तिप्रबोधिनी' जैसे तीन नामों द्वारा मेरा नामकरण किया। (इन तीन मन्त्रों से महादेवी की प्राप्ति होती है।)

12. **श्री**—

1. मैं सज्जनों के पापों का नाश करती हूँ, इसलिए मैं 'श्री' हूँ। (श्रु हिंसायाम्) मैं करुणापूर्ण बात सुनती हूँ। (श्रु श्रवणे) मैं अपने गुणों से विश्व का विस्तार करती हूँ। (श्रु विस्तारे) मैं निरन्तर शरण प्रदान करती हूँ। मैं विष्णु का शरीर हूँ। देवता मुझे चाहते हैं, इसलिए मैं 'श्री' हूँ। (श और र तथा ई से श्री शब्द बनता है)

2. मूलाधार में मैं शान्ता हूँ (श्री में 'श' वर्ण है।) नाभि में मैं 'पश्या' हूँ, (पश्यन्ती वाणी) रन्ती हूँ। (श्री में रेफ आता है—वह 'रन्ती' सूचित करता है। बुद्धि की प्रेरणी और मध्या-मध्य में मैं मुख में सर्ववर्णों की सृष्टिभूत वैखरी हूँ। ('शान्ता' में से 'श', 'रन्ती' में से 'र', प्रेरणी में से 'ई' लेकर 'श्री' शब्द बना है।)

   इस प्रकार शान्ता (परा), पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी जैसे भेदों से मैं आधार आदि चार स्थानों में रहती हूँ। विष्णु का आश्रय ग्रहण करती हूँ, इसलिए श्रया हूँ। जयादि शक्तियों के कारण 'सेव्य' हूँ, इसलिए 'श्रवणीया' हूँ। आश्रितों के पापों का नाश करती हूँ। (रेमि) और कामना प्रदान करती हूँ। (रामि) (श्रयामि विष्णुम्) विष्णु का आश्रय ग्रहण करती हूँ। श्रयणीया शक्तिभि:। शक्तियों द्वारा मेरा आश्रय ग्रहण किया जाता है। सेव्या जयादिभि:। जया वगैरह द्वारा सेव्य हूँ। रेमि-आश्रित के पापों का नाश करती हूँ। रामि-सभी को कामनाएँ प्रदान करती हूँ। इस तरह मैं 'श्री' हूँ।

3. मैं अपनी शक्ति के द्वारा प्रकाश फैलाती हूँ। साक्षात् मङ्गल स्वरूपा हूँ। सभी को रति-आनन्द प्रदान करती हूँ। सभी की ईप्सित हूँ। (श-शक्ति की प्रकाशयित्री, शान्त में मङ्गलमाना, र=रतिरूपा, इ=ईप्सिता, प्रार्थनीया इस प्रकार श्री शब्द की निष्पत्ति हुई है। इस मन्त्र को वर्णों की परा कला की सोलहवीं कला देवों, विभूतियों या ईश्वर के लिए भी दुर्लभ है। आद्य श्री पद में श, र, ई ये तीन वर्ण और ह्रीं ॐ मेरा स्वरूप है। तत्पश्चात् श्रियै नम: मेरे शरीर को धारण करता है।

मन्त्र : इस प्रकार '**ॐ ह्रीं ॐ ॐ श्रियै नम:**' अथवा '**ॐ श्रियै नम:**' मन्त्र बनते हैं। इन मन्त्र के एक-दो-तीन या सभी वर्णों का जप करने से अभीष्ट सिद्धि मिलती है। ये चार वर्ण चार रत्न समान हैं। अत: इसे गुप्त रखना चाहिए।

13. **मा**—मैं सभी को जहाँ-तहाँ प्रक्षिप्त करती हूँ। (मिङ्प्रक्षेपणे - मिमे लिट् लकार का रूप है स्वादिगण मैं समस्त लोगों की हिंसा करती हूँ। (मीङ् हिंसायाम् दिवादिगण मीये) जगत् का क्षय होने पर सम्पूर्ण जगत् मुझमें समा जाता है, इसलिए मैं मति हूँ। (मा माने भ्वादिगण) मैं स्वयं ईश्वरी हूँ। समग्र जगत् में व्याप्त हूँ। (माति, परिमितं भवति) अत: 'यह मेरा है' की भावना उत्पन्न होती है इसलिए मैं माँ हूँ। सब लोग मुझे अपनी आत्मा की तरह चाहते हैं इसलिए सभी मुझे 'माँ' कहते हैं।

मन्त्र : '**ॐ मायै नम:**' यह पञ्चाक्षर मन्त्र सर्वकामनाओं को पूर्ण करता है।

14. **देवी**—मैं सर्व कामनाएँ पूर्ण करती हूँ और सर्व कर्मों की रक्षा करती हूँ। देवाधिदेव की दयिता हूँ। (दा दाने अव् रक्षणे) इसलिए मुनि मुझे देवी कहते हैं।

मन्त्र : '**देव्यै नम:**' यह पञ्चाक्षर मन्त्र भुक्ति और मुक्तिरूपी फल प्रदान करता है।

15. **कां**—

1. 'कां सोऽस्मिताम्' के 'कां' पद का निर्वचन करते हुए माँ लक्ष्मी कहती हैं कि मैं चिन्मयी हूँ और सभी प्राणियों के भीतर रहकर शब्द करती हूँ, इसलिए मैं 'काम्' हूँ। (कै शब्दे - भ्वादि गण की धातु है।)
2. सभी वेदों का प्रतिपाद्य विषय—'ब्रह्म' कौन हैं—एतदर्थ अन्वेषण करती हूँ, इसलिए मैं 'काम्' हूँ। मैं जटामण्डल धारण करके (क=ब्रह्म) ब्रह्म स्वरूप में स्वाध्याय के अध्ययन में तत्पर अनेक लोगों की सृष्टि करती हूँ, इसलिए वेदपारगामी महर्षियों ने मुझे 'काम्' कहा है। (काये इति प्रतिपाद्ये इति)।

मन्त्र : 'ॐ कायै नम:' यह पञ्चाक्षर मन्त्र स्वाध्याय का फल प्रदान करता है।

16. **सोस्मिता**—(स उत् स्मिता) 'उत्' ब्रह्म का नाम है। इस सम्पूर्ण जगत् का विकास बृहत्व उसका (ब्रह्म का) स्मित् है। इस प्रकार 'उत्स्मित' शब्द निष्पन्न हुआ है। इस उत्स्मित के साथ जो है, वह 'सोस्मित' होता है। उस ब्रह्म का सोस्मित मेरे अधीन है। (ब्रह्म का विकास नारायणी पर निर्भर है।) इसलिए मैं 'सोस्मिता' हूँ।

मन्त्र : 'सोस्मितायै नम:' यह सप्ताक्षर मन्त्र साधक का खूब विकास करता है।

17. **हिरण्यप्राकारा**—मेरी परा प्रकृति सभी के लिए हितकारिणी और रमणीय है। उसके सत्त्व स्वरूप का ध्यान करके मुनि अज्ञान का नाश करते हैं। अत: ऋषिगण मेरी हिरण्यप्राकार के रूप में उपासना करते हैं। यहाँ प्राकार शब्द 'प्रकृति' का वाचक है।

मन्त्र : 'ॐ हिरण्यप्राकारायै नम:' यह नवाक्षर मन्त्र है।

18. **आर्द्रा**—लक्ष्मीजी कहती हैं कि मेरी शरण में आने वाले भक्तों के पापों को मैं दूर करती हूँ, इसलिए मैं आर्द्रा हूँ। (आर्द्रा-दूरे) आर्द्रा का एक अन्य अर्थ होता है—'अधोमुख'। मैं मस्तक पर स्थित अधोमुख कर्मों से झरने वाली अमृतधारा से सदैव अभिषिक्त रहने के कारण सदैव आर्द्रा रहती हूँ, इसलिए मैं आर्द्रा हूँ। मैं अन्त:करण में स्थित दया से आर्द्र (कृपामय) रहती हूँ, इसलिए 'आर्द्रा' हूँ।

मन्त्र : 'ॐ आर्द्रायै नम:' यह षडक्षर मन्त्र शान्ति और तेजस्विता प्रदान करता है।

19. **ज्वलन्ती**—मैं समस्त प्राणियों के हृदयाकाश में सदैव प्रज्वलित रहती हूँ, इसलिए 'ज्वलन्ती' हूँ। मैं शुद्ध निरञ्जना, सत्या हूँ। अपने तेज के समग्र संसार को भासित करती हूँ इसलिए मैं 'ज्वलन्ती' हूँ। मैं परा रूप से अशिखा हूँ। मध्यमा, पश्यन्ती और वैखरी के रूप में त्रिशिखा हूँ। क से म तक के 25 वर्णों में से सप्तशिखा हूँ। 'ह, ल, क्ष' इन तीन वर्णों के कारण मैं त्रिशिखा हूँ और शरीर में ज्वाला रूप स्थित रहती हूँ।

मन्त्र : 'ॐ ज्वलन्त्यै नम:' यह षडक्षर मन्त्र शान्ति और तेज प्रदान करता है।

20. **तृप्ता**—वेदों के मर्मज्ञ स्वत: तृप्त रहने वाली मेरा ध्यान धर के ज्ञानरूपी तृप्ति प्राप्त करते हैं, अत: मैं 'तृप्ता' हूँ।

मन्त्र : 'ॐ तृप्तायै नम:'।

21. **तर्पयन्ती**—

1. मैं अपने गुणों से विष्णु को तृप्त करती हूँ और भगवान् के गुणों से मैं स्वयं भी तृप्त रहती हूँ इसलिए मैं तर्पयन्ती हूँ। मैं बहत्तर हजार नाड़ियों से शरीर रूपी समुद्र को तृप्त करती हूँ और नाड़ियों में प्रेरणा उत्पन्न करके रसों से प्राणों को तृप्त करती हूँ, इसलिए मैं तर्पयन्ती हूँ।
2. मैं सुषुम्ना के मार्ग से नित्य परभाव को प्राप्त करने वाले योगियों के निर्मल योग रूपी दर्पण में बिम्बभाव को प्राप्त करके अपने बिम्ब से उत्पन्न चिन्मय सुधारसों से योगियों के उत्तम सत्त्व (तेज, बुद्धि, एकाग्रता वगैरह) को तृप्त करती हूँ, इसलिए मैं तर्पयन्ती हूँ।
3. मैं परिणाम उत्पन्न करने के लिए उद्यत प्रकृति से शुरू करके विशेष तक के (सांख्य दर्शन) पदार्थों के कार्यभाव प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें उनके बल से नाश नहीं होने देती। नदियों से समुद्र की भाँति या तेल से दीपक की भाँति प्राणियों के प्राण के आधान से उनकी इन्द्रियों को तृप्त करती हूँ, इसलिए तर्पयन्ती हूँ अथवा उन्हें अपने अक्षय स्वरूप से तथा अपने संवित् ज्ञानरस से तृप्त करती हूँ, अत: योग के पारगामी मुझे तर्पयन्ती कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ तर्पयन्त्यै नम:' यह सप्ताक्षर मन्त्र समग्र संसार को तृप्त करता है।

22. **पद्मे स्थिता**—जो पद्ममान—नित्यप्रवाह रूप से धारा की तरह वर्तमान को परिच्छेद करता है अर्थात् बाँटता है अत: काल पद्म है। उस काल को मैं प्रवाहित करती हूँ। उसमें स्थित रहती हूँ, इसलिए मैं 'पद्मे स्थिताम्' हूँ। इस नाम से स्तुति करने वाले पुरुष काल से पर-कालातीत हो जाते हैं।

मन्त्र : 'ॐ पद्मे स्थितायै नम:।'

23. **पद्मवर्णा**—मैं अपने तेज से पुरुष-प्रधान ईश्वर रूप पद्म के वर्ण और आकार वाली हूँ, इसलिए पद्माकार वर्ण से मेरा पूरा शरीर सुशोभित है, इसलिए मैं पद्मवर्णा हूँ। (पद्यमानत्वात् पुंप्रधानेश्वरा: पद्मशब्दार्था:)

मन्त्र : 'ॐ पद्मवर्णायै नम:।' इस मन्त्र का पाठ करने वाला शास्त्रों में पण्डित बनता है।

24. **चन्द्रा**—क्षीरसागर में मन्थन करने से सर्वप्रथम प्रकाश उत्पन्न हुआ। यह चन्द्र नामक मेरा तेज सर्वोपरि है, इसलिए मेरे प्रभाव के ज्ञाता ऋषियों ने मेरा नाम चन्द्रा रखा है। यह चन्द्र तो मेरे करोड़ों के करोड़वें अंश से उत्पन्न हुआ है।

मन्त्र : 'ॐ चन्द्रायै नम:।' यह षडक्षर मन्त्र मन को निर्मल बनाता है।

25. **प्रभासा**—

1. मेरा भास (प्रकाश) सदैव सर्व अवस्थाओं में सर्व तेजों को प्रचण्ड रूप से अपनी ओर खींच लेता है। सूर्य अन्य के तेज को तिरोहित कर देता है। परन्तु सूर्यादि का तेज उसके समक्ष तिरोहित हो जाता है। जिस प्रकार अपनी परछाई को अपने पैरों से कूदा (लांघा) नहीं जाता, जो पैर उसे कूदना (लांघना) चाहता है, उस पैर के आगे ही सिर की परछाई रहती है, इस प्रकार प्रकृष्ट तेज होने के कारण मैं 'प्रभासा' हूँ।
2. मेरा तेज सदैव उदीयमान है, चिदानन्द स्वरूप है, निरन्तर प्रकाशमान है। श्रद्धा, सोम, अप् (पानी) अन्न, वीर्य और हवि आदि भोगशक्ति की प्रभाएँ हैं। मैं उन्हें छ: अग्नि से प्रक्षिप्त करती हूँ। इसीलिए तन्त्र-वेदान्ततत्त्व ऋषियों द्वारा दी गई व्युत्पत्ति—'प्रभा अस्यति प्रक्षिपति' अनुसार मैं प्रभासा कहलाती हूँ।

मन्त्र : 'ॐ प्रभासायै नम:।' यह सप्ताक्षर मन्त्र तेज और संतानप्रदा है।

26. **यशसा**—इस संसार में जो विद्या दान वगैरह सत्कार्यों से उपजता है, वह यश है। यह यश अनेक स्वरूपों में बँटा हुआ है। मैं यश, तेज और श्री का पात्र हूँ। हे इन्द्र! बुद्धिमान् लोग यश के कारण मुझे यशस्विनी कहते हैं। (यहाँ सिर्फ 'यशसाम्' पाठ ही स्वीकृत है, 'ज्वलन्तीम्' नहीं)।

मन्त्र : 'ॐ यशसायै नम:।' यह सप्ताक्षर मन्त्र यश प्रदान करता है।

27. **ज्वलन्ती**—मैं स्वर्ग, पर्जन्य, भूमि, पुरुष स्त्री और वैश्वानर इन विभागों में सोम, अप् (पानी), अन्न, वीर्य और हविष्य नाम से हवि ग्रहण करती हूँ और मैंने अपने आपको छः भागों में विभक्त करके अग्नि भाव प्राप्त किया है, इसलिए मुनियों ने मुझे भोक्तृशक्ति से उज्ज्वल 'ज्वलन्ती' कहा है। इसलिए मैं ज्वलन्ती हूँ।

मन्त्र : 'ॐ ज्वलन्त्यै नमः।' इस प्रकार अग्निहोम विभाग से विश्व का सर्जन हुआ है। इस मन्त्र से स्तुति करने वाले साधक को अभीष्ट प्राप्ति होती है।

28. **देवजुष्टा**—देवाधिदेव विष्णु मुझे चाहते हैं और देवता भी मेरी सेवा करते हैं। इन्द्रियाँ मेरा आश्रय लेकर विषयों में आसक्त रहती हैं। प्रकृति के विशेष परिणाम के कारण वे अचेतन हैं और मेरी शुद्ध विज्ञान क्रियारूप शक्ति के कारण स्रोत, वाणी, मन, आदि विषयों में संलग्न होने के लिए मेरी सेवा करते हैं, इसलिए मैं 'देवजुष्टा' हूँ। जो इस मन्त्र से अन्तःकरण में स्थित इन्द्रियों द्वारा सेवित सर्वशक्तिप्रदा निरन्तर मेरा ध्यान करते हैं, वे इन्द्रियों से देवताओं को भी जीत लेते हैं, इसलिए मैं देवजुष्टा हूँ।

मन्त्र : 'ॐ देवजुष्टायै नमः।'

29. **उदारा**—महर्षियों का विज्ञान मनुष्यों की शक्तियों और सर्वक्रियाएँ उत्पन्न होता है। मैं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रदान करती हूँ, अतः बुद्धिमान् मुझे 'उदारा' कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ उदारायै नमः।' यह सप्ताक्षर मन्त्र अभीष्ट प्रदान करता है।

30. **ता (पद्मनीमी)**—यहाँ दो शब्द हैं। ता - मैं सृष्टि, स्थित, संहार, निग्रह और अनुग्रह इन पाँचों कृत्यों का निर्माण करती हूँ। जगदात्मा रूप में सर्वत्र व्याप्त रहती हूँ। (तायृ संतानपालनयोः) इसलिए वेदान्त पारगामी महर्षि मुझे 'ता' कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ तायै नमः।' इस पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करने वाले का कल्याण होता है।

31. **पद्मनीमी**—मैं अपने तेज से प्रकृति और पुरुष का उन्नयन करती हूँ। इसलिए मैं पद्म हूँ। कालातीत होने के कारण 'नीमी' हूँ। इस प्रकार मेरा नाम 'पद्मनीमी' है। (यहाँ 'नीमी' का अर्थ है 'परे'।)

मन्त्र : 'ॐ पद्मनीम्यै नमः।' यह सप्ताक्षर मन्त्र समस्त सिद्धियाँ प्रदान करता है।

32. **आदित्यवर्णा**—मैं तेज, यश और श्री के कारण आदित्य को तेजस्वी बनाती हूँ। वर्ण अर्थात् वर्णवन्तं तेजस्विनं करोमि। मैं आदित्य में स्थित वर्णात्मा (अक्षरात्मा) दिव्य त्रयीमयी देवस्वरूपा हूँ और उसके अक्षरों से अतीत और अनागत सर्व अर्थों का प्रकाशन करती हूँ। इसलिए मैं आदित्यवर्णा हूँ। पितृओं, देवों और मनुष्यें का सनातन चक्षु हूँ। (**चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।** इस प्रकार का श्रुति वचन भी है।)

मेरा आदिभूत वर्ण तार (ॐ) है। ॐकार प्रथम सिद्ध अर्थ का वाचक है। मैं अपने रूप से सान्ता उदिता और आनन्दा बनकर आनन्दित रहती हूँ। प्रणव की सूक्ष्म शिक्षा मेरा शब्दमय शरीर है। प्रणवशिखा से स्नानकरने वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय लगता है। मैं शब्दमयी हूँ और मुझसे 'आदित्यवर्ण' समूह उपस्थित होता है। अर्थात् प्रणव मात्र से सभी वर्णों की उपस्थिति होती है। वैखरी के रूप में मुझमें स्थित सर्व अर्थों को देखकर ही ऋषियों ने मुझे 'आदित्यवर्णे' कहा है।

मन्त्र : 'ॐ आदित्यवर्णायै नमः।' यह नवाक्षर मन्त्र सर्व कामनाएँ पूर्ण करता है।

33. **कीर्तिः**—मैं देवमित्र वायु के साथ किरणों को इधर-उधर प्रक्षिप्त करता हूँ। इसलिए मैं कीर्ति हूँ। 'मणिना' अर्थात् मूलाधार में स्थित अग्नि से शब्दों को परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी रूप को उत्तरोत्तर प्रकट करती हूँ, इसलिए मैं कीर्ति हूँ। 'देवसख' यहाँ तृतीया विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। मैं बारह कमलपत्रों पर विश्राम करती-करती सबसे ऊपर द्वादशान्त में पहुँचती हूँ। यहाँ 'उपैतु' का अर्थ 'भजामि' है।

मन्त्र : 'ॐ कीर्त्यै नमः।' यह पञ्चाक्षर मन्त्र योग के निर्मल बनाता है।

34. **ऋद्धिः**—मैं विष्णु के गुणों से वृद्धि पाती हूँ। योगियों को प्रसन्न करती हूँ। मैं आधारचक्र में स्थित वृद्धि पाती हूँ और विस्तृत करती हूँ, इसलिए वृद्ध लोग मुझे ऋद्धि कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ ऋद्ध्यै नमः।'

35. **गन्धद्वारा**—यहाँ 'गन्ध' शब्द में रूप, रस, शब्द और स्पर्श का समावेश हो जाता है इससे यह प्रतिपादित होता है कि इसका आश्रय पृथ्वी वगैरह है। मुझे पहचानने के लिए गन्ध और पृथ्वी वगैरह द्वार हैं। मैं सर्व पुष्पगन्धों की शाश्वती द्वारभूता है अतः वेदज्ञाता ब्राह्मण मुझे 'गन्धद्वारा' कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ गन्धद्वारायै नमः।'

36. **दुराधर्षा**—मैं सर्व दैत्य दान और राक्षसों के लिए दुराधर्ष हूँ। दूराधर्ष अर्थात् अजेय। शुद्ध संवित् और शुद्ध क्रिया हूँ। कोई मुझे रोक नहीं सकता। मेरा कर्तृत्व और मेरा ज्ञातृत्व सभी का आत्मभूत और क्रियात्मा रूप है। उसका जो अपनयन करता है। वह मेरे निषेध का ज्ञाता तथा कर्त्ता मुझे समझ नहीं करता। मेरी संवित् की गति का कोई घर्षण नहीं कर सकता। अतः घर्षण का अभाव ही मेरी संवित् है। सांख्य दर्शन के ज्ञाता विद्वान् मुझे दुराधर्ष कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ दुराधर्षायै नमः।' यह मन्त्र मनुष्य के सर्व अज्ञान को दूर करत है।

37. **नित्यपुष्टा**—नित्य रूप में स्थित महाविष्णु मेरा पोषण करते हैं। उनके ज्ञान, शक्ति आदि सद्गुणों से मैं पुष्ट होती हूँ। मेरा नित्य संवित् स्वरूप पराशरीर विषय बगैर ही पुष्ट होता है। वह नित्य संवित् स्वरूप मेरा शरीर अपनी चेतनाओं से जडात्मा विषयों का पोषण करता है, इसीलिए ज्ञानी मुझे नित्यपुष्टा कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ नित्यपुष्टायै नमः' यह अष्टाक्षर मन्त्र साधक के ज्ञान को पुष्ट करता है।

38. करीषिणी—

1. 'करी' शब्द 'कृ' धातु से बना है। 'करी' का अर्थ करने वाले जो मन, वचन और काया से शुद्ध हो तथा यज्ञ, दान और अध्ययन रूप तीनों क्रियाओं से शुद्ध हों उन्हें मैं देखना चाहती हूँ। इसीलिए मैं 'करीषिणी' हूँ। यहाँ 'कृ' का इच्छादर्शक रूप 'करीषणी' है।
2. बड़े-बड़े पहाड़ जैसे श्वेत वर्ण वाले हाथी मेरा वाहन है। मैं उनकी स्वामिनी होकर उन पर सवारी करती हूँ। यहाँ 'करी' शब्द का अर्थ हाथी है। 'इष गतौ' धातु से 'करीषणी' शब्द बना है।
3. मैं समस्त सृष्टि को रचती हूँ। (कृ=करना) तथा समस्त सृष्टि का मैं अन्त करने वाली हूँ। (कृ हिंसायाम्) अतः तत्त्व ज्ञाता मुझे 'करीषिणी' कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ करीषिण्यै नमः।' यह सात अक्षरों का मन्त्र सर्वकामनाएँ सिद्ध करता है।

39. ईश्वरी—मैं अपने प्रियतम विष्णु सहित चेतनात्मक और अचेतनात्मक सर्वप्राणियों की स्वामिनी हूँ। मैं सर्व लोगों द्वारा ध्यान धरने पर वरदान देती हूँ। मैं समस्त भुवनों की 'ईशानी' हूँ। मैं बुद्धि प्रदान करती हूँ। स्वयं वृद्धि पाती हूँ और भक्तजनों के पापों को दूर करती हूँ, इसीलिए वेदों में मुझे 'ईश्वरी' कहा गया है।

मन्त्र : 'ॐ ईश्वर्यै नमः।' यह छः अक्षरों वाला मन्त्र ऐश्वर्य और समृद्धि प्रदान करता है।

40. मनसः कामः—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिव्यलोक में जितने अप्राकृतिक सदानन्ददायी काम हैं, वे सब मुझमें स्थित हैं। मैं सर्व मनोरथों से परे हूँ। मैं भगवान् विष्णु के मन में स्थित काम हूँ। मैं विष्णु की विलास भूमि हूँ इसीलिए देवता 'मनसः काम' से मेरी स्तुति करते हैं।

मन्त्र : 'ॐ मनसः कामाय नमः।' यह नवाक्षर मन्त्र सर्वकामनाओं की समृद्धि करता है।

41. वाच आकूतिः—लौकिक और वैदिक तथा बाह्य आगमनों में प्रयुक्त दोषरहित और दोषयुक्त सभी वाणियों के उच्चारण की क्रिया मुझे लक्ष्य में रखकर ही होती है। इस प्रकार मैं सभी के अभिप्राय की भूमि हूँ और वाणी के तात्पर्य की भूमि भी मैं हूँ। इसलिए वेदज्ञ 'वाच आकूति' के नाम से मेरी स्तुति करते हैं।

मन्त्र : 'ॐ वाच आकूत्यै नमः।' इस अष्टाक्षर मन्त्र से शब्द और अर्थ की सिद्धि मिलती है।

42. सत्यम्—समग्र जगत् सर्वप्रमाणों से सत् है (सत्) और त्यच्च=स्वयंसिद्ध भी है। इस प्रकार जगत् दो प्रकार का है और वह समग्र जगत् मैं हूँ, इसलिए महर्षि मुझे सत्य कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ सत्याय नमः।' यह मन्त्र सर्व सत्य का फल प्रदान करता है।

43. **पशूनां रूपम्**—पशु शब्द जीव का वाचक है। सर्व जीवों को तीन दृष्टियों से देखा जाता है—देव, तीर्थ और मनुष्य। अथवा बद्ध, मुक्त और नित्यरूप में देखा जा सकता है। हे इन्द्र! उनके चेतन और अचेतन रूप मैं ही हूँ। सब जीव मेरी शक्ति का अंश मात्र है। मेरी आग्नेय शक्ति चेतन और अचेतन रूप में प्रकट होती है। इसीलिए सांख्य के ज्ञाता मुझे 'पशूनां रूपम्' के रूप में पहचानते हैं।

मन्त्र : 'ॐ पशूनां रूपाय नमः।' यह नवाक्षर मन्त्र सम्यक् ज्ञान का फल प्रदान करता है।

44. **अन्नस्य यशः**—अन्न दो प्रकार का है—त्रैगुण्य अन्न समस्त प्राकृत भोग्य स्वरूप है। अर्थात् कि प्रकृति से उत्पन्न सर्व जीव सत्त्व, रजस् और तमस् को भोगते हैं। दूसरा अन्न षाड्गुणीय है। वह अप्राकृत भोग्य है। अनुबद्धजीव के लिए त्रैगुण्यरूप अन्न है। मुक्त जीवों के लिए षाड्गुण्य अन्न है। इन दोनों प्रकार के अन्नों का यश सर्वभूतात्मा मैं हूँ। प्राकृत और अप्राकृत भोग मेरी शक्ति से वृद्धि प्राप्त करता है। ये दोनों अन्न मेरी सोमात्मक शक्ति से उत्पन्न हुए हैं इसीलिए तत्त्वज्ञानी मुझे 'अन्नस्य यशः' कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ अन्नस्य यशसे नमः।' यह नवाक्षर मन्त्र सर्व भोग प्रदान करता है।

45. **माता**—मातृ शब्द में 'मा' और 'तृ' दो अक्षर हैं। सर्वप्रथम 'मा' अक्षर का निर्वचन—मैं भुवन, पद, मन्त्र, तत्त्व, कला और वर्ण वाले षडध्वा मन्त्रों को अलग-अलग करती हूँ। (मिमे) मैं सर्व माप से जगत् का संहार करती हूँ। (मीये मीह् हिंसायाम् दिवादिगण) सर्व मानों में ज्ञान रूप मान मैं हूँ। समग्र जगत् मेरी कुक्षि में परिमित रूप में समा जाता है, इसलिए मैं माँ हूँ।

अब 'तृ' शब्द का निर्वचन—मैं समग्र जगत् को भवसागर पार कराती हूँ इसलिए मैं 'तृ' हूँ। (तृ प्लवनतरणयोः) मैं सम्पूर्ण दोषात्मक समुद्र को पार कर देती हूँ। जल से मेघ बनकर समग्र विश्व को डूबा देती हूँ। इसलिए मैं 'तृ' हूँ। मैं सर्व प्राणियों का हितचिन्तन करती हूँ। उनका हित करती हूँ। इसलिए योगी मुझे सर्वभूतों की माता कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ मात्रे नमः।'

46. **पद्ममालिनी**—सुषुम्ना के पर्यायवाचक नामों के सन्दर्भ में 'पद्ममालिनी' शब्द की चर्चा की जा रही है। सुषुम्ना नामक नाड़ी समस्त नाड़ी समूह में मुख्य है। सुषमा को ही मुक्तियान, महायान और योगीयान कहा जाता है। सुषुम्ना वैष्णवी शक्ति है। जिसके सहारे समस्त संकल्पों के विषयों में उत्पन्न होते हैं, स्थिर रहते हैं, जो शरीर के ऊर्ध्व और अधोभाग का भेदन करके परमाकाश पर्यन्त सर्वत्र व्याप्त रहती हो, उसे सुषुम्ना कहते हैं। संसार के सर्वदुःखों से खिन्न सर्वजीवों की मुक्ति हेतु वह बनी है। लक्ष्मीजी कहती है कि वह सुषुम्ना मैं ही हूँ। मैं ही मूलाधार से मस्तक तक 32 कमलों की माला में व्याप्त सुषुम्ना हूँ, इसलिए पद्ममालिनी हूँ। मैं प्रकृति-पुरुष और सनातन काल को अपने कमल स्वरूप में धारण करती हूँ, इसलिए मैं पद्ममालिनी हूँ।

मन्त्र : 'ॐ पद्ममालिन्यै नमः।' यह अष्टाक्षर मन्त्र सर्व कर्मों का फल प्रदान करता है।

47. **पुष्करिणी**—'पुष्करिणी' शब्द 'पुष्' और 'कृ' धातु से बना हुआ है। मैं सर्व का रूप से, यश से और श्री से पोषण करती हूँ। सिर्फ मैं ही पद्मरूप काल नामक पुष्कर का उन्नयन करती हूँ, इसलिए ऋषियों ने सिर्फ मुझे ही पुष्करिणी कहा है।

मन्त्र : 'ॐ पुष्करिण्यै नमः।' यह मन्त्र पोषण देता है।

48. **यष्टि**—मैं सर्वदेवों द्वारा पूजी जाती हूँ। (यज् पूजायाम्) मैं सदैव विष्णु के साथ रहती हूँ। (यज् सङ्गतिकरणे) मैं सर्व कामनाएँ प्रदान करती हूँ। (यज्—प्रदान करना) मैं सर्व जीवों का अवलम्बन हूँ। (यष्टी—लकड़ी) इतना ही नहीं बल्कि प्रधान और पुरुष मेरे अवलम्बन में स्थित हैं, इसलिए महर्षियों ने मुझे यष्टि कहा है।

मन्त्र : 'ॐ यष्ट्यै नमः।' यह षड् अक्षरों का मन्त्र सर्व योगों का फल प्रदान करता है।

49. **पिङ्गला**—

1. मैं अपने तेज से तप्त स्वर्णकान्तिवत् पिङ्गल वर्ण की हूँ इसलिए मैं 'पिङ्गला' हूँ।
2. पहले के समय यक्षेश्वर कुबेर को समृद्धि प्रदान की थी। (पिङ्गाय लाति ददाति) (ला–दान के अर्थ में) इसलिए कुबेर ने मुझे 'पिङ्गला' कहा है।

मन्त्र : 'ॐ पिङ्गलायै नमः।' यह सप्ताक्षर मन्त्र योग और तेज की समृद्धि प्रदान करता है।

50. **तुष्टिः**—मैं अपने गुणों से विष्णु को सन्तुष्ट करती हूँ और विष्णु के गुणों से मैं सन्तुष्ट रहती हूँ। सब अपने–अपने गुणों से मेरी स्तुति करके सन्तुष्ट होते हैं। इसलिए योग के ज्ञाता मुझे 'तुष्टि' कहते हैं।

मन्त्र : **'ॐ तुष्ट्यै नमः।'** यह षडक्षर मन्त्र मन को सन्तुष्टि प्रदान करता है।

(टिप्पणी—'तुष्टि' के स्थान पर सर्वत्र 'पुष्टि' पाठ मिलता है। पुष् पोषण के अर्थ में है। लक्ष्मी ही जगत् का पोषण करती है इसलिए वह पुष्टि है।)

51. **सुवर्णा**—

1. मैं संसिद्ध लोगों को अपरसुव अर्थात् कि स्वर्गलोक और परसुव अर्थात् परमपद तक पहुँचाती हूँ, इसलिए मैं सुवर्णा हूँ।
2. सुशोभनावर्णा वाचका यस्याः। यह बहुव्रीहि समास है। मेरे वाचक वर्ण शोभा वाले हैं, जिन्हें 'इत्थमित्थ' रूप में नहीं कहा जा सकता, इसलिए मैं सुवर्णा हूँ।
3. मैं नित्य सरस्वती बनकर सर्वोत्तम सुन्दर वर्णों से वर्णन करती हूँ, इसलिए तत्त्वज्ञ ब्राह्मण मुझे 'सुवर्णा' कहते हैं।

मन्त्र : 'ॐ सुवर्णायै नमः।' यह सप्ताक्षर मन्त्र सर्व संपत्ति और समृद्धि प्रदान करता है।

52. हेममालिनी—सुवर्ण शृङ्गी मेरू पर्वत सूर्य और चन्द्र वगैरह ग्रहों से पूर्ण है। मैं ब्रह्मा की स्थिति (मर्यादा) की सिद्धि हेतु पृथ्वी के रूप में (पृथ्वी बनकर) उसे धारण करती हूँ। इसलिए ब्रह्माजी ने हेममालिनी के रूप में मेरी स्तुति की है।

मन्त्र : 'ॐ हेममालिन्यै नमः।' यह अष्टाक्षर मन्त्र धैर्य प्रदान करता है।

53. सूर्या—

1. मैं सर्व जीवों के कल्याण हेतु 25 तत्त्व उत्पन्न करती हूँ, इसीलिए मैं सूर्या हूँ। (यहाँ 'सूर्या' का 'सू' उत्पन्नकर्ता के अर्थ में है।) 'र' रमण के अर्थ में है। मैं जीवों को भोग और मोक्ष देकर रमण कराती हूँ। 'य' नियन्त्रण के संकोच के अर्थ में है। मैं सजीव तत्त्व पद्धति को काल से नियन्त्रित करती हूँ। इस प्रकार सूर्या शब्द 'स', 'र' और 'य' तीन अक्षरों से बना है।
2. अर्क मण्डल में सूर्य रूप में मैं तत्त्व का विचार करने वाले विद्वानों का हित करती हूँ। इसलिए विद्वान् मुझे सूर्या कहते हैं। यहाँ 'हित' के अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है।

मन्त्र : 'ॐ सूर्यायै नमः।' यह षडक्षर मन्त्र भोग और मोक्ष प्रदान करता है।

लक्ष्मीजी ने श्रीसूक्त के 53 शब्दों का निर्वचन किया है। श्रीसूक्त से ही लक्ष्मी प्राप्ति और इच्छित प्राप्ति होती है। श्रीसूक्त भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करता है। इस नामावली की श्रीरूप देवता लक्ष्मीजी स्वयं हैं। श्रीसूक्त की महिमा अनन्त है। श्रीसूक्त के जप से सब कुछ प्राप्त होता है।

(लक्ष्मी तन्त्र का 50वां अध्याय श्लोक 1 से 211)

1. ॐ हिरण्यवर्णायै नमः।	2. ॐ हरिण्यै नमः।
3. ॐ सुवर्णस्रजे नमः।	4. ॐ रजतस्रजे नमः।
5. ॐ चन्द्रायै नमः।	6. ॐ हिरण्मय्यै नमः।
7. ॐ लक्ष्म्यै नमः।	8. ॐ अनपगामिन्यै नमः।
9. ॐ अश्वपूर्वायै नमः।	10. ॐ रथमध्यायै नमः।
11. ॐ हस्तिनादप्रबोधिन्यै नमः।	12. ॐ श्रीयै नमः।
13. ॐ मायै नमः।	14. ॐ देव्यै नमः।
15. ॐ कायै नमः।	16. ॐ सोस्मितायै नमः।
17. ॐ हिरण्यप्राकारायै नमः।	18. ॐ आर्द्रायै नमः।
19. ॐ ज्वलन्त्यै नमः।	20. ॐ तृप्तायै नमः।

21. ॐ तर्पयन्त्यै नम:।
22. ॐ पद्मे स्थितायै नम:।
23. ॐ पद्मवर्णायै नम:।
24. ॐ चन्द्रायै नम:।
25. ॐ प्रभासायै नम:।
26. ॐ यशसायै नम:।
27. ॐ ज्वलन्त्यै नम:।
28. ॐ देवजुष्टायै नम:।
29. उदारायै नम:।
30. ॐ तायै नम:।
31. ॐ पद्मनेम्यै नम:।
32. ॐ आदित्यवर्णायै नम:।
33. ॐ कीर्त्यै नम:।
34. ॐ ऋद्ध्यै नम:।
35. ॐ गन्धद्वारायै नम:।
36. ॐ दूराधर्षायै नम:।
37. ॐ नित्यपुष्टायै नम:।
38. ॐ करीषिण्यै नम:।
39. ॐ ईश्वर्यै नम:।
40. ॐ मनस: कामाय नम:।
41. ॐ वाच आकूत्यै नम:।
42. ॐ सत्यायै नम:।
43. ॐ पशूनां रूपायै नम:।
44. ॐ अन्नस्य यशसे नम:।
45. ॐ मात्रे नम:।
46. ॐ पद्ममालिन्यै नम:।
47. ॐ पुष्करिण्यै नम:।
48. ॐ यष्ट्यै नम:।
49. ॐ पिङ्गलायै नम:।
50. ॐ तुष्टायै नम:।
51. ॐ सुवर्णायै नम:।
52. ॐ हेममालिन्यै नम:।
53. ॐ सूर्यायै नम:।

नोट : हमारा नम्र निवेदन है कि यहाँ श्रीं लक्ष्मीबीज का ॐ के स्थान पर विनियोग हो सकता है। मन्त्र जप करते समय लक्ष्मी देवता का ध्यान, ऋषिका लक्ष्मी, श्रीछन्द और लक्ष्मीनारायण की प्रीति हेतु विनियोग करें।

8 राजतिलक बैंगलो,
आबाद नगर के पास
बोपल
पो. अहमदाबाद-380058
चलवाणी- 09427624516

शिवसूत्रों की नन्दिकेश्वर कृत आगमिक व्याख्या का विमर्श

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

पाणिनि व्याकरण के चतुर्दश शिवसूत्र के आगमिक व्याख्या का विमर्श इस शोध निबन्ध का ध्येय है। तन्त्रागम परम्परा में मन्त्र अर्थात् शब्द को ब्रह्म मानकर ही साधना की जाती है। मन्त्र की अमोघ शक्ति सर्वत्र स्वीकार्य है। वैयाकरणों का स्फोट तो यथार्थत: प्रणवरूप ही है। प्रणव का प्रादुर्भाव ब्रह्म से ही होता है। प्रणव को ब्रह्म का वाचक पतञ्जलि स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं—'**तस्य वाचक: प्रणव**' (*योगसूत्र)* । यहाँ अवधेय है कि जिस प्रकार ब्रह्म से ईश्वर को द्वार मानकर (ईश्वर के द्वारा) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि सकल रूपमय सृष्टि के उपादानभूत पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ब्रह्म से प्रणव के द्वारा अकार से क्षकार पर्यन्त पचास नामरूप वर्णों की उत्पत्ति होती है। जैसाकि आगमों में अभियुक्तों ने प्रतिपादित किया। आगमों में अभियुक्तों ने लिखा है—

आदिक्षान्ता इमे वर्णा: सम्भूता: परमात्मन:।
द्वारीकृत्य प्रणवकं सर्वशब्दस्य कारणम्।।
अकारात् स्वरसम्भूति: स्पर्शसृष्टिरुकारत:।
अन्त:स्थोष्मक्षकाराणां मकारात्सम्भवो मत:।।
स्वरा: षोडश विज्ञेया: स्पर्शास्तु पञ्चविंशति:।
अन्त:स्थाश्च तथोष्माण: वेदवेदमिता: स्मृता:।।
क्षकारो वर्णसंयोगस्योपलक्षणमीरित:।
ह्रस्वदीर्घावुभौ भेदावनाद्यौ हि प्रकीर्तितौ।।
प्लुत उत्पत्तिकालीनोऽत: पाश्चात्यो विधीयते।

इनका तात्पर्य यह है कि अकार से क्षकार-पर्यन्त जो पचास वर्ण हैं, जो समस्त शब्दमय नाम जगत् के कारण हैं, उनका प्रादुर्भाव उसी ब्रह्म से प्रणव के द्वारा हुआ है। 'ॐ' इस प्रणव में अ, उ, म् ये तीन वर्ण हैं। उनमें अकार से स्वर (अ, आ, इ, ई इत्यादि), उकार से स्पर्श (क से म तक) और मकार से अन्त:स्थ, ऊष्म तथा क्षकार का प्रादुर्भाव हुआ है। स्वर सोलह, स्पर्श पचीस, अन्त:स्थ चार, ऊष्म चार और क्षकार

एक—ये सब मिलाकर 50 वर्ण होते हैं। समस्त संयुक्त वर्णों का उपलक्षण क्षकार है। स्वर में जो ह्रस्व, दीर्घ आदि भेद हैं, वे अनादि हैं। प्लुत उत्पत्तिकालीन होने से पाश्चात्य (पीछे का) माना गया है। ये ही पचास वर्ण समस्त वाङ्मय जगत् के उपादानकारण माने गये हैं।

वर्णों का स्थूलशरीर में आविर्भाव–प्रकार

स्थूल शरीर में व्यापक वर्णों का जिस प्रकार आविर्भाव होता है, उसका वर्णन संक्षेप में शास्त्रानुसार इस प्रकार है कि मूलाधारचक्र में भगवान् शब्दब्रह्म का निवास है, जिनकी रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती हैं। उस ऊर्ध्वरश्मि वाले शब्दब्रह्म के महिमा–प्रदर्शन के लिए सकललोकव्यवहारार्थ इस स्थूल शरीर में मूलाधार से ललाटस्थ आज्ञाचक्र तक जो षट्चक्र चक्र बताये गये हैं, उन्हीं चक्रों में वर्णों के आविर्भाव के लिए योगियों ने उन वर्णों के आश्रयीभूत कमलों की कल्पना की है। शब्द स्फोट की जो वायवीय रश्मियाँ हैं, वे मूलाधार से उद्गत होकर (ऊपर उठकर) उन्हीं पद्मपत्रों में वर्णभाव को प्राप्त करती हैं, अर्थात् वर्णरूपों में परिणत हो जाती है। बाद में कण्ठ, तालु आदि स्थानों के अभिघातों से विभिन्न रूपों में मुख के द्वारा प्रादुर्भूत होती हैं। पुन: श्रोताओं की श्रोत्रेन्द्रियों के द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर उन पद्मपत्रों में स्थित वर्णों के द्वारा ही अपने मूल कारण स्फोट ब्रह्म में लीन हो जाती है। यही वर्णों के आविर्भाव और तिरोभाव का क्रम है।

वर्णों के आश्रयीभूत पद्मपत्र एवं मूल आधार स्थान

वैदिक एवं आगमिक विद्वान् प्रतिमा में जो प्राण–प्रतिष्ठा कराते हैं, उसमें अन्तर्मातृका का न्यास होता है। उसी में समस्त शब्दों के उपादानभूत पारमार्थिक स्फोट–तत्त्व का प्रकाशक मातृका नाम का जो शब्द–तत्त्व है, उसका ध्यान करने के लिए तान्त्रिक लोग एक श्लोक पढ़ते हैं—

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे कण्ठदेशे ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के।
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणाम्
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि।। —*योगसूत्रभाष्य*

अभिप्राय यह है कि आधार=मूलाधार, लिङ्गमूल, नाभि, हृदय, कण्ठदेश और ललाट—इन स्थानों में छह चक्रों की कल्पना योगियों ने की है। उनके प्रत्येक चक्र में एक–एक कमल की भी कल्पना की गई है। उनमें आधारचक्र में चतुर्दल कमल है, लिङ्गमूल में षड्दल, नाभि में दशदल, हृदय में द्वादशदल, कण्ठ में षोडशदल और ललाट में द्विदल कमल है। उन कमलों के एक–एक (पत्र) पर एक–एक वर्ण के आविर्भाव होने का स्थान है। जैसे, आधारचक्र में वर्तमान चार दलवाले कमल में ब से स तक—व, श, ष और स ये चार वर्ण प्रत्येक दल में एक–एक हैं। लिङ्गमूलस्थ षड्दल वाले कमल में ब से ल तक अर्थात् ब, भ, म, य,

र, ल तक ये छह वर्ण हैं। नाभिस्थ दशदल वाले कमलदलों में ड से फ तक ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प और फ ये दस वर्ण प्रत्येक दल में एक-एक हैं। हृदयस्थ द्वादश दल वाले कमल में क से ठ तक बारह वर्ण, अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ ये ही बारह वर्ण प्रत्येक दल पर एक-एक हैं। कण्ठदेश सोलह दल वाले कमल में स्वर, अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ओ, औ, अं, अः ये सोलह वर्ण प्रत्येक दल में रहते हैं तथा दो दल वाले ललाटस्थ कमल में हं, क्षं ये दो वर्ण रहते हैं।

इस प्रकार, मूलाधार से लालट-पर्यन्त छह स्थानों में छह कमलों और उनके पचास दलों की जो कल्पना की गई है (जिनमें उक्त पचास वर्णों की अभिव्यक्ति होती है) वह निरर्थक कपोल-कल्पित या निराधार नहीं है। उसमें एक गूढ रहस्य है। जब वक्ता किसी अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग करना चाहता है तब उसकी आत्मा उस अर्थ को बुद्धि से लेकर कहने की इच्छा से मन के साथ संयोग करती है, मन कायाग्नि (जो नाभिस्थ स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित है, जो विवक्षात्मिका शक्ति से प्रेरित करता है, वह कायाग्नि भी मूलाधारस्थ वायु को प्रेरित करता है। वह वायु अपने स्थान से उद्‌गत होकर ऊपर की ओर चलता है तो उसी विवक्षा (कहने की इच्छा) शक्ति से उस अभीष्ट वर्ण के स्थान का स्पर्श करता है, जिस स्थान को योगियों ने उपर्युक्त वर्णों के आधारभूत कमलदलों के रूप में देखा है। ये ही वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि जो वर्णों के स्थान बताये गये हैं, वे तो ब्रह्मस्थान हैं। बिना आभ्यन्तर स्थानों के स्पर्श किये इन वर्णों की अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती। जिस प्रकार ओष्ठों को सटाये बिना प, फ आदि वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते और कण्ठस्पर्श के क, ख आदि वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार आभ्यन्तर स्थानों के स्पर्श किये बिना किसी अभीष्ट वर्ण का उच्चारण असम्भव है। तत्-तत् आभ्यन्तर स्थानों के स्पर्श होने पर ही उन स्थानों में वर्णों का आविर्भाव होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। कण्ठ, ओष्ठ आदि बाह्य स्थानों के स्पर्श का अनुभव तो प्रायः सबको प्रत्यक्ष है, परन्तु वर्णों के मूल आधारस्थान का साक्षात्कार केवल योगियों को ही होता है।

वर्णों के मूल आधार स्थान का साक्षात्कार हेतु दिव्य दृष्टि की आवश्यकता होती है। जब योगी प्राणायाम एवं प्रत्याहार के द्वारा बहिर्मुखी चित्तवृत्ति का निरोध कर, धारणा एवं समाधि में षट्‌चक्र के भेदन की प्रक्रिया के निरन्तर अभ्यास से पश्यन्ती का साक्षात् अनुभव प्राप्त कर सकता है। पहले आभ्यन्तर वर्णों के स्थानों का अनुभव होता है तत्पश्चात् प्रकाश का आविर्भाव होता है। प्रकाश का साक्षात्कार करने वाला ही वास्तव में शब्द का साधक है। सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् में उसका ही आधिपत्य होता है। वह निर्विकल्प समाधि में परा शक्ति का साक्षात्कार करके कृत्यकृत्य हो जाता है। वर्णों के इस अलौकिक आन्तरिक स्वरूप को देखने हेतु अर्जुन की तरह दिव्य चक्षु की आवश्यकता है। वेदवाणी संस्कृत ही मन्त्रों की दिव्य शक्ति से समन्वित है। यदि अपभ्रंश भाषा का प्रयोग मन्त्र के रूप में किया जाये तो उसमें दिव्य-शक्ति का समावेश

तन्त्र शास्त्रों में स्वीकार्य नहीं है कतिपय वैयाकरण अपभ्रंश में लोकव्यवहार अर्थज्ञान तो स्वीकार करते हैं पर पुण्यजनकता स्वीकरणीय नहीं है।

जीवों में चेतना जिस प्रकार ईश्वर प्रदत्त है वैसे ही प्रणव के द्वारा वर्णमातृका में अर्थवत्ता प्रदान की जाती है तब संस्कृत वर्ण मन्त्रमय बन जाते हैं। जिस प्रकार ईश्वर सकल सृष्टि के नियमन हेतु ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि रूप में आविर्भूत होकर समस्त चेतन सृष्टि का कारण बनकर प्राणियों के नियमन को सम्भव करता है तथैव प्रणवात्मक स्फोट परमार्थ का वाचक होने के कारण वास्तविक अर्थवान् मन्त्र ब्राह्मणात्मक वाक्य स्फोट है उसके आविर्भाव के लिए मातृका वर्णों को लेकर 'अक्षर समाम्नाय' नाम से विशिष्ट रचना को धारण करता है। माहेश्वर के 14 सूत्र अइउण आदि को अक्षर समाम्नाय या अक्षरवेद कहते हैं।

चतुर्दश शिव सूत्र हैं—1. अइउण्, 2. ऋलृक्, 3. एओङ् , 4. ऐऔच्, 5. हयवरट्, 6. लण्, 7. ञमङणनम्, 8. झभञ्, 9. घढधष्, 10. जबगडदश्, 11. खफछठथचटतव्, 12. कपय्, 13. शषसर्, 14. हल्।

'अ इ उण्' आदि सूत्रों के वर्णसमाम्नायत्व का व्यवस्थापन

इन सूत्रों की आगमिक व्याख्या नन्दिकेश्वर के द्वारा *काशिका* नामक छोटे-से ग्रन्थ में की गई है जो दुर्लभ है अत: उसका सारभूत विवेचन पं. रङ्गनाथ पाठक ने अपने विश्रुत ग्रन्थ 'स्फोटदर्शन' (पृ. 49-58) में किया है जो यहाँ साररूप में प्रस्तुत है।

'अइउण्' इत्यादि सूत्रों के अक्षरवेदत्व-व्यवस्थापन के लिए महर्षियों द्वारा प्रदर्शित अलौकिक अर्थ का प्रदर्शन जिज्ञासुओं के लिए करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह अलौकिक अर्थ नन्दिकेश्वर मुनि ने मुनियों से कहा है। यह इतिहास किसी विद्वान् को अविदित नहीं है कि स्वयं भगवान् शङ्कर ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन और नन्दिकेश्वर आदि मुनियों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर उनके उद्धार की कामना से प्रेरित होकर ढक्कानिनाद के व्याज से चतुर्दशसूत्रात्मक तत्त्वों का उपदेश किया। उसके बाद समस्त मुनियों ने परस्पर विचार किया कि बहुत काल तक तपस्या करने से प्रसन्न होकर हम लोगों के उद्धार के लिए ही भगवान् शङ्कर ने ढक्कानाद के व्याज से तत्त्व का उपदेश किया है, परन्तु हम लोगों की समझ में नहीं आता है। इन सूत्रों का यथार्थ अर्थ परम दयालु भगवान् शङ्कर के परम अनुग्रह के पात्र नन्दिकेश्वर ही जान सकते हैं इसलिए उन्हीं से पूछना चाहिए। ऐसा विचार कर सब मुनियों ने उनके पास जाकर प्रणतिपूर्वक सूत्रों का तत्त्वार्थ पूछा। महामुनीश्वर नन्दिकेश्वर ने निम्नविवृत 27 कारिकाओं में उन लोगों को तत्त्वोपदेश करने के उपक्रम में यह कहा—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्त्तुकाम: सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।1।।

नटराजराज भगवान् शङ्कर अपने आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने के लिए ढक्वानिनाद के व्याज से सनकादि मुनियों के उद्धार के लिए अपने अन्त:स्थित आत्मतत्त्व को प्रकाशित करते हुए नृत्त के अन्त में चौदह बार ढक्वा (डमरू) को बजाया। उससे जो भी वर्ण निकले, वह मातृका निकले। वे यद्यपि क.ख. आदि मातृका-रूप सनातन हैं, तथापि परमार्थ का प्रकाशक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में प्रवृत्ति के लिए अखण्ड पदस्फोट-रूप जो प्रणव है, उसी से उद्भूत वर्ण-स्फोटात्मक मातृका-वर्ण क.ख.ग. आदि से विलक्षण अ इ उण् आदि के रूप में शिव ने प्रकट किया। श्लोक में 'शिवसूत्रजालम्' का तात्पर्य है—शिव के प्रोक्त अतिरहस्य-रूप सूत्रजाल। अथवा शिव कल्याण को भी कहते हैं, इससे यह अर्थ हुआ कि सकल वेद-मन्त्रों के उपादान होने से कल्याण-रूप सूत्रसमूह। 'विमर्श' का तात्पर्य है, 'विचार्य स्फोटीकरोमि'—विचारकर प्रकाशित करता हूँ। 'विमर्श' यह प्रयोग क्रिया के रूप में छान्दस है।।1।।

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये।।2।।

इन सब सूत्रों के अन्त्यवाले चौदह वर्णों का उपदेश भगवान् महेश्वर ने पाणिनि आदि महर्षियों की इष्टसिद्धि के लिए किया है, जो धात्वर्थ हैं, अर्थात् धातुमूलक शब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थ हैं। इससे यह सूचित होता है कि अनुबन्धों को महेश्वर ने ही लगाया है और वे भी आदि अन्त-रहित और वेद के भी मूल हैं। 'धात्वर्थ' से यह सूचित होता है कि उन्हीं अनुबन्धों से धातुओं की कल्पना की गई है। इन्द्र ने लिखा है—'**अन्त्यवर्णसमुद्भूता: धातव: परिकीर्त्तिता:**' अर्थात् अन्त्य वर्णों से ही धातु उत्पन्न हुए हैं।।2।।

अकारो ब्रह्मरूप: स्यात् निर्गुण: सर्ववस्तुषु।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूपमुदीरित:।।3।।

प्रथम माहेश्वर सूत्र से सब वर्णों तथा समस्त भुवनों का समुद्भव (उत्पत्ति) रूप स्वात्मतत्त्व का उपदेश किया गया है, ऐसी प्रतीति होती है। उसी बात को दिखाने के लिए कहते हैं—'अकार:' इत्यादि। अकार:='अइउण्' का अकार निर्गुण परमात्मा 'इ' चित्कला=माया का आश्रयण कर 'उण' अर्थात् सगुण सर्वव्यापक रूप में आविर्भूत हुआ, अथवा निर्गुण परमात्मा चित्कला माया का आश्रयण कर सगुण व्यापक रूप में भासित होता है। पहले स्वर सृष्टि-क्रम में अ. इ. उ. ऋ.लृ. इन्हीं पाँच स्वरों का आविर्भाव हुआ। इन्हीं पाँच स्वरों से पञ्चभूत और पञ्चवर्गों का आविर्भाव होता है। पञ्चभूतों के द्वारा समस्त रूपात्मक जगत् और वर्णों के द्वारा सकल शब्दमय जगत् की सृष्टि हुई।।3।।

इन सन्दर्भों से यही प्रतीत होता है कि वर्णों की उत्पत्ति के क्रम में पहले अ का ही प्रादुर्भाव हुआ है। 'ॐ' में भी पहला अक्षर अकार ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् के उपदेशामृत—*भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने ही कहा—'**अक्षराणामकारोऽस्मि**', में अक्षरों में अकार हूँ।

इसके अनन्तर इसी सूत्र की विशद व्याख्या छह कारिकाओं में है—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः, प्रकाशः परमेश्वर।
आद्यमन्त्येन संयोगात् अहमित्येव जायते।।4।।

इस कारिका में 'आदिरन्त्येन सहेता' यह सूत्र भी सूचित होता है। आदि, अर्थात् 'अ इ उण्' का अकार, अन्त्य='हल्' सूत्र का हकार ये दोनों मिलकर अहम् प्रत्याहार बनता है।।4।।

इस अहम् के भीतर जितने वर्ण हैं, ये सब ईश्वर का वाचक जो प्रणवात्मक स्फोट वस्तु है, उसी से ही आविर्भूत होते हैं। यही बात विशद रूप से आगे कही गई है—

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम्।।5।।

वक्त्रे विशुद्धिचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः।
सृष्ट्याविर्भावमाध्यात्मं मध्यमावाक्समायुतम्।।6।।

इसका अभिप्राय यह है कि आधारचक्र-स्थित पराशक्त्यात्मक स्फोट तत्त्व ही, जिसको शब्दब्रह्म भी कहते हैं, परमात्मा का प्रकाशक है। वही अनादि जीवोपाधि के आश्रित होकर कर्मप्रेरित प्राणवायु के व्यापार के बाद नाभिचक्र में जाकर पश्यन्ती के रूप में परिणत होता है। बाद में वही उसी प्राणवायु की सहायता से हृदयस्थ अनाहतचक्र में मध्यमा शब्द का वाच्य होता है।।5।। इसके बाद में उसी वायु की जो सहायता है, उसके द्वारा कण्ठस्थ विशुद्धिचक्र में जाकर वैखरी नाम से विभूषित हो, सकल वेद, शास्त्र, पुराणादि समस्त वाङ्मय जगत् के आकार में परिणत होती है या इन्हीं के आकार में भासित होती है।।6।।

इस वास्तविकता को श्रुति भी पुष्ट करती है—'**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे**' अर्थात् परा नाम की वाक्शक्ति ही समस्त विश्व शब्दों के आकार में भासित होती है। इसी का उपसंहार दो श्लोकों में किया गया है—

अकारं संनिधिं कृत्य जगतां कारणत्वतः।
इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात् कारणं मतम्।।7।।

जगत् स्रष्टुमभूद् वाञ्छा यदाद्यस्य सदाभवन्।
कामबीजमिति प्राहुः मुनयो वेदपारगाः।।8।।

अकारो ज्ञप्तिमात्रः स्याद् इकारश्च कला मता।
उकारो विष्णुरित्याहुः व्यापकत्वान्महेश्वरः।।9।।

इसका भावार्थ यह है कि 'अ' शब्द कार्यकारण से रहित परमात्मा का वाचक है, इकार इसकी शक्ति है। वही सकल वाक् का कारण है। सकल जगत् के कारण होने से 'इकार' ही आकाररूपी चेतन परमात्मा का

सान्निध्य प्राप्त कर समस्त वर्णों का कारण होता है।।7।। सृष्टि करने के लिए परमात्मा की जो वाञ्छा (इच्छा) होती है। उसी को वेदपारग मुनि कामबीज कहते हैं।।8।। इसी को दृढ़ करने के लिए आगे कहते हैं—'**अकारो ज्ञप्तिमात्रः स्यात्**' इत्यादि। अकार ज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र है, अकार कला है और उकार व्यापक होने से विष्णु रूप है और वही महेश्वर है।।9।।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि समस्त वेदान्तदर्शन में परमात्मा को अद्वैत माना गया है और यहाँ कहा गया है—चित्कला माया (जो द्वितीय है) का आश्रयण कर जगत्-रूप हो गया; इस प्रकार कहने से अद्वैत-सिद्धान्त ही नहीं बन पाता। इस विरोध को देखकर आगे कहते हैं—

ऋलृक् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत्।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत्।।10।।

भावार्थ है 'ऋ' परमेश्वर ने 'लृ' माया नाम की अपनी इच्छात्मिका मनोवृत्ति को ही दिखाया है, अर्थात् ईश्वर इच्छात्मिका मनोवृत्ति का ही आश्रयण कर जगत् को उत्पन्न करता है। तन्त्रों में भी लिखा है—'**मम चाभून्मनो रूपं लकारः परमेश्वरी**' इत्यादि। अर्थात्, मेरा मनरूपी लृकार ही परमेश्वरी माया कही जाती है। इसीलिए ऋ और लृ को परस्पर तादात्म्यापन्न बताया गया है, अर्थात् दोनों का तादात्म्य (अभेद) है।।10।।

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वत् यथा वागर्थयोरिव।।11।।

यहाँ इव शब्द पादपूर्ति के लिए ही समझना चाहिए; क्योंकि वह यथा शब्द से ही गतार्थ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वृत्ति और वृत्तिमान्, अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् में भेद का लेश भी नहीं है, जिस प्रकार चन्द्र और चन्द्रिका, शब्द और अर्थ में भेद नहीं होता। इसी अभिप्राय से वाक् और अर्थ में कोई-कोई लेशतः भेद स्वीकार करते हैं।।11।।

स्वेच्छया स्वस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ।
वर्णानां मध्यमं क्लीबमृलृग् वर्णद्वयं विदुः।।12।।

असौ=वह परमात्मा अपनी इच्छाशक्ति से ही चिदाभास ग्रहण करने योग्य अपनी चिच्छक्ति (जिसको जगत् के कारणभूत माया भी कहते हैं) में विश्व को उत्पन्न करता है। शास्त्रकारों ने लिखा है—'**मम योनिरभूद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।**' यहाँ 'क्लीव' शब्द से ब्रह्मस्वरूप का बोधन होता है। परन्तु, यह मान लेने पर भी यह शङ्का होती है कि जन्यजनकभाव मानने पर भी अद्वैत की हानि होती है। इसके उत्तर में कहा गया है—**तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।** इसी सिद्धान्त से आगे कहते हैं—

एओङ् मायेश्वरात्मैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु।
साक्षित्वात् सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम्।।13।।

यहाँ जन्यजनक शब्द से तत्-तद् रूप से निर्वचन (भासित होना) समझना चाहिए, इसीलिए अद्वैत की हानि नहीं होती है। इसका आशय यह है कि अकार, उकार और मकार से निष्पन्न ओङ्कार से सगुण और निर्गुण दोनों के ऐक्य-बोधन होने पर भी उसी दृष्टान्त से सर्वत्र ऐक्यबुद्धि होने पर द्वैत का नाश ही ध्वनित होता है। समष्टि और व्यष्टि के भेद से पूर्ववर्ण से युक्त द्वितीय का और उससे युक्त तृतीय का समन्वय-बोधन के लिए यह सूत्र है।

ए, ऐ, ओ और औ, ये सन्ध्यक्षर वर्ण कहे जाते हैं। अकारात्मक, अर्थात् अ (ब्रह्म) इ (माया) से युक्त होकर जो एकार हुआ, वह अनुज्ञान रूप से 'उ' से युक्त होकर ओकार हो जाता है। '**प्रज्ञानं ब्रह्म**' इस सिद्धान्त से विज्ञान या प्रज्ञान-रूप से समस्त वस्तु वास्तव में एक ही होता है। इस अवस्था में नानात्व के अभाव होने से अद्वैत (द्वैताभाव) सिद्धान्त सूपपन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वटबीजन्याय से अ, इ, उ, ऋ और लृ ये ही पाँच वर्ण समस्त वर्णों के योनि (कारण) होते हैं।।13।।

अब यह प्रश्न होता है कि स्वात्मभूत परमेश्वर जगत् का कारण किस प्रकार होता है? इस आशङ्का का उत्तर देते हैं—

'ऐऔच्' ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत् स्वान्तर्गतं ततः।
इच्छया विस्तरं कर्त्तुमाविरासीन्महामुनिः।।14।।

आ+ई=ऐ, आ+ऊ=औ, अर्थात्, शक्तिविशिष्ट जो कारण पहले कह चुके हैं, वही कुछ सूक्ष्मरूप को धारण कर सूक्ष्मरूप से अपने कारण स्वरूप में स्थित जो जगत् है, उसे विस्तार करने के लिए प्रादुर्भूत होता है।।14।। इस प्रकार, कारणस्वरूप का प्रतिपादन कर कार्यभूत ब्रह्मा का प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं—

भूतपञ्चकमेतस्माद् हयवर महेश्वरात्।
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत् स एव हि।।15।।

ह, य, व, र स्वरूप जो महेश्वर है, उसी से पाँच भूतों की उत्पत्ति है। व्योम (आकाश), वायु (पवन), अम्बु (जल) और वह्नि (अग्नि) इन भूतों के रूप में वह महेश्वर थे।।15।।

हकाराद् व्योमसंज्ञश्च यकाराद् वायुरुच्यते।।
रकाराद् वह्निस्तोयन्तु वकारादिति शैववाक्।।16।।

हकार से आकाश, यकार से वायु, रकार से अग्नि और वकार से जल उत्पन्न हुआ, यह शिववाक्य है। अब यहाँ शङ्का होती है कि पूर्व में पाँच भूतों की उत्पत्ति की प्रतिज्ञा कर यहाँ चार की ही उत्पत्ति क्यों दिखाई?।।16।। इसके समाधान के लिए आगे कहते हैं—

आधारभूतं भूतानामन्नादीनाञ्च कारणम्।
अन्नाद् रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणीरितम्।।17।।

उद्भिज, स्वेदज, जरायुज और अण्डज इन चार प्रकार के भूतों के और अन्नादि के प्रधान कारण होने से आधारभूत पृथिवी 'लण्' सूत्रस्थल से उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से आकाश का बीज 'हं', वायु का 'यं', अग्नि का 'र', जल का 'वं' और पृथिवी का 'लं' तन्त्रशास्त्रों में बताया गया है।।17।। इसके बाद तन्मात्राओं की उत्पत्ति का क्रम बताया जाता है—

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ञमङणनम्।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात् सर्ववस्तुषु।।18।।

क, ख, ग आदि पाँच वर्गों के अन्त्य वर्णों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।।18।। ये पाँचों तन्मात्र भौतिक पदार्थमात्र में रहते हैं।

कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रकार—

वाक्पाणी च झभञासीत् विराड्रूपचिदात्मनः।
सर्वजन्तुषु विज्ञेयं स्थावरादौ न विद्यते।।19।।

वर्गाणां तुर्यवर्गा (र्णा) ये कर्मेन्द्रियगणा हि ते।
घढधष् सर्वभूतानां पादपायुह्युपस्थकाः।।20।।

उपर्युक्त श्लोक में 'उपस्थका' यही पाठ प्राचीन पुस्तक में उपलब्ध होता है। वहाँ सन्धि का अभाव आर्षत्वात् समझना चाहिए। इनका तात्पर्य यह है—वर्गों के चतुर्थ वर्ण जो झ, भ, घ, ढ और ध के रूप में चिदात्मक का विराट् स्वरूप है, उसी से वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है, जो जङ्गम-मात्र में रहते हैं, स्थावरों में नहीं।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रकार इस प्रकार माना गया है—

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वादीन्द्रियपञ्चकम्।
सर्वेषामपि जन्तूनामीरितं जबगडदश्।।21।।

श्रोत्र, त्वक्, अक्षि (नेत्र) घ्राण, जिह्वा—इन ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति, ज, ब, ग, ड और द इन पाँच वर्णों से क्रमशः होती है, जो समस्त जन्तुओं में विद्यमान है।।21।। मन्त्रशास्त्रों में भी लिखा है—'**वर्गेषु मध्यमा वर्गाः ज्ञानेन्द्रियगणाः स्मृताः।**' वर्गों में उक्त मध्यम वर्णों से ही ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

प्राणादि पञ्चक और अन्तःकरण के उद्भव प्रकार इस प्रकार हैं—

प्राणादिपञ्चकश्चैव मनोबुद्धिरहङ्कृतिः।
बभूव कारणत्वेन खफछठथचटतव्।।22।।

वर्गद्वितीयवर्णोत्थाः प्राणादिपञ्च वायवः।
मध्यवर्गत्रयाज्जाता अन्तःकरणवृत्तयः।।23।।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँच प्रकार की वायुओं की और मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन अन्तःकरण की वृत्तियों की उत्पत्ति ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इन आठ वर्णों से होती है। इनमें भी वर्गों के द्वितीय अक्षर ख, फ, छ, ठ, थ से प्राणादि पाँच वायुओं की और मध्य वर्गों के जो आद्य तीन अक्षर हैं, उनसे तीन अन्तःकरण की वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। यही तात्पर्य है।।22-23।।

अब इसके बाद सबके कारणत्व में आदि 'कवर्ग' के एक वर्ण क और अन्त्य 'पवर्ग' के प लेने से कपञ् होता है। इस क प से प्रकृति-पुरुष की विवक्षा है। इन दोनों से सम्पुटीभाव करने के लिए कहते हैं—

आद्यन्तद्वयसम्भूतौ पुरुषः प्रकृतिर्गुहा।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव सर्वेषामेव कारणम्।।
सत्सम्भूतिस्तु विज्ञेया कपाभ्यामिति निश्चितम्।।24।।

इसका तात्पर्य यह है कि आदि-अन्तवाले वर्गों के एक-एक वर्ण लेकर प्रकृति-पुरुष के रूप में क वर्ग से प वर्ग तक का बोधक 'कप' प्रत्याहार ही सकल वाङ्मय जगत् का उपादान होता है।।24।। अब आगे तीन अवस्थाओं को कहते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा।
समाश्रित्य महादेवः शषस क्रीडति प्रभुः।।25।।

सृष्टि के आदिकाल में श ष सर् वर्णों से सम्भूत सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों को लेकर भगवान् शङ्कर सर्वत्र क्रीडा करते हैं, अर्थात् सृष्टि, स्थिति (पालन) और संहार के कारण होते हैं।

शकाराद् राजसं रूपं षकारात्तामसोद्भवः।
सकारात् सत्त्वसम्भूतिरिति त्रिगुणसम्भवः।।26।।

'शकार' से राजस, 'ष' से तामस और 'स' से सत्त्वगुण की उत्पत्ति है।।26।।

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः।
अहमात्मा परो हल् स्यादिति शम्भुः तिरोदधे।।27।।

जो समस्त लोकों का जनक है, वह तो समस्त तत्त्वों से परे है ही। वही सबके साक्षीरूप में स्थित परब्रह्म परमात्मा भगवान् शम्भु समस्त लोकों के कल्याण के लिए वेदमय शरीर को प्रकट कर हल् के रूप में सूचित

होता है।।27।। शैवागम में भी प्रसिद्ध है—'**हकार: शिववर्ण: स्यादिति शैवागमाच्छ्रुतम्**' हकार शिव वर्ण है, यह शिवतन्त्र में प्रसिद्ध है। वही भगवान् शङ्कर ढक्वानिनाद के व्याज से मुनियों के लिए तत्त्वों का उपदेश देकर स्वयं तिरोहित हो गये। इस तरह नन्दिकेश्वर-कृत कारिका में शिवसूत्रों की आगमिक व्याख्या सम्पन्न होती है।

इन सबका निष्कर्ष यही होता है कि सकल शब्दों के कारणभूत मातृका ही (क, ख, ग, घ इत्यादि) है, वही परमार्थभूत स्वात्मतत्त्व के प्रकाशक जो वैदिक शब्दशास्त्र हैं, उनमें प्रवृत्ति के लिए सूक्ष्मार्थ-बोधक वर्णस्फोट के रूप में परिणत हो जाय, इस अभिप्राय से भगवान् शङ्कर ने मातृका-वर्णों का ही पौर्वापर्य क्रम को त्याग कर विलक्षण वर्णसमाम्नाय (अ इ उण् आदि) के सूत्रों के रूप में ढक्वानिनाद के व्याज से मुनियों को उपदेश किया है, और पाणिनि प्रभृति को प्रत्याहार-बोधन के लिए अनुबन्धों को भी लगा दिया है। तन्त्रशास्त्रों में कहा है—

महादेवो मुनीन्द्रेभ्यो मातृकामेव सञ्जगौ।
पौर्वापर्यं परित्यज्य प्रत्याहारप्रवृत्तये।।
सर्वथा सापि नो त्यक्ता चोकुरित्यादिदर्शनात्।
स्पर्शान्त:स्थोष्मसंज्ञादिक्रमत्यागेन सम्भवेत्।।

महादेव ने मुनीन्द्रों के लिए प्रत्याहार-सिद्धि के द्वारा शास्त्रों में प्रवृत्त्यर्थ केवल पौर्वापर्य-क्रम-रहित मातृका-वर्णों का ही उपदेश किया है क्योंकि 'चोकु:', 'कुहोश्चु:' इत्यादि सूत्रों में चवर्ग, क ख ग आदि का व्यवहार देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि क्रम के सर्वथा त्याग से स्पर्श, अन्त:स्थ और ऊष्म आदि संज्ञा भी नहीं बन सकती, यही इसका तात्पर्य है।

इस स्थिति में पूर्वाचार्यों का यह सिद्धान्त भी सिद्ध होता है कि—

यावद्वाग्विषयं तावन्मातृकायां स्थितं पुरा।
वटबीजाच्च वटवत् प्रादुर्भूतं तत: पुन:।
मातृका सर्वकल्पेषु एकैवाऽविष्कृता सदा।
न किञ्चिद्वस्तुविकृतिमेति कल्पान्तरेष्वपि।।

शब्दों के जितने भी विषय हैं, वे सब पूर्व से ही मातृका में स्थित है। सूक्ष्म वटबीज से महान् वटवृक्ष की तरह सूक्ष्म मातृकाओं से ही समस्त वाङ्मय जगत् का प्रादुर्भाव होता है। मातृका सभी कल्पों में सदा एक ही प्रकार के अविकृत रूप से रहती है। कोई भी वस्तु कल्पान्तरों में विकार को प्राप्त नहीं करती, अर्थात् अविकृत रहती है। समस्त वस्तुओं के इस प्रकार अविकृत होने में श्रुति ही प्रमाण है। जैसे—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
सर्ववस्तुतथात्वे हि श्रुतिरेवोपलक्षणम्।।

विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा को भी पूर्व के अनुसार ही आविर्भूत किया है। समस्त वस्तुओं की तथारूपता, अर्थात् पूर्वरूपता में श्रुति ही प्रमाणभूत है।

इस रीति से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सनातन, नित्य (अविनाशी) प्रणव नामक स्फोट के परिणामभूत जो स्फोटरूप वर्ण हैं, वे भी सनातन नित्य ही हैं। इसलिए, अक्षरसमाम्नायस्थ (अ इ उण् इत्यादि) जो वर्ण हैं, वे ही वर्णस्फोट के उदाहरण तथा शब्दब्रह्म के सूक्ष्मरूप या सूक्ष्मशरीर हैं। मन्त्रात्मक स्थूलरूप या स्थूलशरीर है। मन्त्र ही अखण्ड वाक्यस्फोट के मुख्य उदाहरण हैं।

इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार आचार्यों ने उपाधि-भेद से नित्य अखण्ड परमात्मा के तीन प्रकार के शरीर होने की कल्पना की है—कारण, शरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर, उसी प्रकार वाचक शब्दब्रह्म के भी तीन शरीर की कल्पना युक्त ही है। 'ॐ' यह शब्द ब्रह्म का कारणशरीर है, 'अ इ उण्' इत्यादि अक्षरसमाम्नाय सूक्ष्म और तत्-तत् मन्त्ररूप स्थूल शरीर है।

इस स्थिति में जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरों से युक्त आत्मा को जीव कहा जाता है, उसी प्रकार प्रणव, अक्षरसमाम्नाय और मन्त्र इन तीनों शरीरों से युक्त परमात्मा ही वाचकस्वरूप स्वात्मप्रकाशक होने के कारण स्फोट शब्द का वाच्य होता है, अर्थात् स्फोट कहा जाता है। यही वैयाकरणों का स्फोटविषयक सिद्धान्त है जो आगमिक परम्परा पर पूर्णतया आधारित है, यह सिद्ध होता है।

शिवसूत्र के मन्त्रों से आपत्ति निवारण का विधान

प्रख्यात आगमिक विद्वान् डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *मन्त्रशक्ति* (पृ. 126-127) में शिवसूत्र से आपत्ति निवारण का विधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि जिस समय आपत्तियाँ प्राप्त हों तो उस समय भगवान् शिव के डमरू से प्राप्त 14 सूत्रों को एक श्वास में बोलने का अभ्यास करके एक माला (108 मन्त्र) का जप प्रतिदिन करे। कैसा भी कठिन कार्य हो, शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। इन्हीं चतुर्दश सूत्रों के मन्त्र से अन्य प्रयोग इस प्रकार किये जाते हैं—

1. बिच्छू के काटने पर इन सूत्रों से झाडने पर विष उतर जाता है।
2. सर्प के काटने पर जिस व्यक्ति को सर्प ने काटा हो उसके कान में उच्च स्वर से इन सूत्रों का पाठ सुनाना चाहिए।

3. प्रेत का आवेश जिस व्यक्ति में आया हो उस पर उपर्युक्त सूत्रों से अभिमन्त्रित जल से छींटे देने से आवेश छूट जाता है तथा इन्हीं सूत्रों को भोजपत्र पर लिखकर गले में बाँधने से अथवा बाहु पर बांधने से प्रेतबाधा नष्ट हो जाती है।

4. ज्वर, तिजारी, चौथिया आदि में इन सूत्रों पर झाडने-फूँकने से ज्वर शीघ्र छूट जाता है अथवा इन्हें पीपल के एक बड़े पत्ते पर लिखकर गले या हाथ पर बांधने से भी ज्वर छूट जाते हैं।

5. उन्माद या मृगी आदि रोग से पीड़ित होने पर इन सूत्रों से झाड़ना चाहिए तथा प्रतिदिन जल को अभिमन्त्रित करके पिलाना चाहिए अथवा सफेद चन्दन से अनार की कलम द्वारा भोजपत्र पर लिखकर कवच के रूप में बाँधे। इनका जप एक श्वास में करने का अभ्यास होना चाहिए।

सह आचार्य
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-302004
दूरभाष-09413970601

पाञ्चरात्रागम में गुरुतत्त्व

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

भारत-भूमि में पैदा-पल्लवित हुए सभी धर्मों तथा दर्शनों ने गुरु तत्त्व को ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व स्वीकार किया। हिन्दू, सिख, जैन तथा बौद्ध सभी धर्मानुयायियों में गुरु तत्त्व सर्वदा सर्वोत्तम बना रहा। सच तो यह है कि गुरु तत्त्व की सम्पूर्ण विवेचना के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है, जिसमें उसके सभी स्वरूपों और पक्षों पर सम्यक् मीमांसा हो सके। भारतीय संस्कृति-साधना की प्रमुख परिपाटी है कि सभी विचारक, कवि, कलाकार और साधक सर्वप्रथम गुरुप्रणति, प्रार्थना, वन्दना से ही स्वपथ निर्मित करते हैं। परिणामत: गुरुस्तवन, स्तोत्र तथा स्मरण आदि भारतीय वाङ्मय का विपुल वैभव है।

भारतीय अध्यात्म परम्परा तथा साधना में भगवत्तत्त्व की प्राप्ति के लिए या जीवन और ब्रह्म के ऐक्य ज्ञानार्थ गुरु ही एकमात्र साधन है। इसलिए, उसकी सर्वश्रेष्ठता तथा अनिवार्यता स्वयमेव सिद्ध है। यही कारण है कि ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों तथा तन्त्रागमों में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है और उसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव का साक्षात् स्वरूप कहा गया है—

गुरु: साक्षादादिनारायण पुरुष:। — *महानारायणोपनिषद्।*

तन्त्रागम तथा योगविद्या में गुरु के बिना अध्यात्म तथा साधनाराज्य में प्रवेश ही दुष्कर है। साधना प्रणाली, इष्ट प्राप्ति तथा योगसिद्धि के लिए गुरु ही सर्वसामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुष है। यहाँ पर विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वैदिककाल से मध्य तथा वर्तमान युग तक श्रीगुरुभाव तथा श्रीगुरुतत्त्व का जो विकास हुआ है वह भी स्वयं में हमारी सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक परम्परा का एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

पाञ्चारात्रागम अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। प्राय: 225 संहिताओं के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं।[१] इसके प्रणेता स्वयं भगवान् नारायण है—

1. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
2. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण: स्वयम्।

---

१. *संस्कृत-वाङ्मय का वृहत् इतिहास* (तन्त्रागम खण्ड), उ. प्र. संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ. 89

वर्तमान में भी दक्षिण भारत में इसकी उपासना पद्धति प्रचलित है। पाञ्चरात्र-परम्परा के अन्तर्गत ईश्वर के पाँच रूप—पर, व्यूह, विभव, अर्चा तथा अन्तर्यामी स्वीकार किये गये हैं।[१]

पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षा आदि पाञ्चरात्रिक कृत्यों के लिए उपर्युक्त आचार्य के लक्षणों का विशद और विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है। शास्त्रों में दीक्षा का भी गम्भीर और सुचिन्तित विवेचन किया गया है। दीक्षा संस्कार से ही गुरु शिष्य को स्वीकार करता है। दद्यात् से 'द' और क्षयम् से 'क्ष' लेकर दीक्षा शब्द बना है। कुछ देने वाले और कुछ लेने वाले विशेष कर्मों का नाम ही दीक्षा है—

दीयते विमलं ज्ञानं दिव्यभावं परात्मनि।
क्षीयते पापसन्तानं सा दीक्षा तन्त्रसम्मता।।
ईक्ष्यते भगवान् येन कर्मणा पुरुषोत्तमः।
द्यते संसारमखिलं सा दीक्षाऽऽगमसम्मता।।

— *सङ्कर्षणसंहिता* — आचाररात्रे 2.15-17

योगिनी तन्त्र में कहा गया है—

दीयते ज्ञानमित्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।
अतो दीक्षेति देवेशि कथितस्तत्त्वचिन्तकैः।। — *योगिनी तन्त्र*, 3.6

वैखानसआगम में दीक्षा देने वाले गुरु स्वयं विष्णु ही होते हैं तथा शिशु की दीक्षा माँ के गर्भ में ही हो जाती है। यही कारण है कि वैष्णवतत्त्व को प्राप्त होने वाला शिशु 'गर्भ वैष्णव' कहा जाता है। यह संस्कार 'गर्भचक्र संस्कार' वैखानसों का विशिष्ट तरह का है।[२] इस प्रकार वैखानस मत में शिशु जन्म से पूर्व ही वैष्णव हो जाता है तथा वैष्णव रूप में जन्म लेता है।

वैष्णवागम के दोनों सम्प्रदाय-(पाञ्चरात्र तथा वैखानस) समूर्त्तार्चन के लिए प्राधान्येन प्रख्यात हैं। यहाँ देवालय निर्माण तथा विग्रहाराधन पर विशेष बल दिया गया है। फलस्वरूप देव प्रासाद निर्माण के लिए आचार्य के चुनाव पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। आचार्य का लक्षण बताते हुए कहा गया ह कि वह शौचाचारादि-सम्पन्न परम्परागत आचार्य-कार्य सम्पादित करने में विशेष निपुण हो। उसे सौम्य, जितेन्द्रिय, ऊहापोहज्ञ, संशय का निराकरण करने वाला होना चाहिए।[३] महर्षि अत्रि का कहना है कि आचार्य ब्राह्मण वेदज्ञ, नित्य-स्वाध्याय में रत, भक्ति एवं अध्यात्म-गुणों वाला, नित्यहोम करने वाला,

---

१. *अहिर्बुध्न्यसंहिता* 11/63-65

२. *आनन्दसंहिता*, 8/10, 11 *वैखानसागम*, *भारतीयतन्त्रशास्त्र*, पृ. 407

३. (क) यज्ञाधिकार 2/1-3; (ख) निरुक्ताधिकार-4; (ग) वासाधिकार-1 (घ) क्रियाधिकार 1/22-25 (सभी महर्षि भृगु प्रोक्त हैं। (ङ) ज्ञानकाण्ड-21 — महर्षि कश्यपोक्त

नारायणपरायण, आलयार्चा-विधिमन्त्र-प्रयोग का जानकार तथा वैखानससूत्रनिषेकादि क्रियान्वित होना चाहिए। सम्पूर्ण लक्षण महर्षि अत्रि के ही शब्दों में—

आचार्यं वरयेत् पूर्वं सर्वकार्योपदेशकम्।
वैखानसेन सूत्रेण निषेकादिक्रियान्वितम्।।
विप्रं वेदाविदां श्रेष्ठं नित्यस्वाध्यायसंयुतम्।
शौचाचारसमायुक्तं भक्त्यध्यात्मगुणैर्युतम्।।
तेन सूत्रविधानेन नित्यहोमसमन्वितम्।
पत्न्यपत्ययुतं शान्तं नारायणपरायणम्।।
आलयार्चाविधेर्मन्त्रान् प्रयोगं तदनुक्रमम्।
प्रायश्चित्तं च वेत्तारं समाहूयाभिपूज्य च।।
एतैर्गुणैः सुसंपन्नमाचार्यं वरयेद्वरम्।
हीनातिरिक्तदीर्घाङ्गं कुब्जमन्धं च वामनम्।।
क्षयापस्मारकुष्ठैश्च पापरोगैः समन्वितम्।
क्रूरं मत्सरिणं षण्डं पाषण्डं बधिरं तथा।।
उन्मादेन युतं स्तेनं नास्तिकं शौचवर्जितम्।
विष्णुभक्तिविहीनं च चलचित्तं च वर्जयेत्।।
आचार्यं वरयित्वैवं तेनोक्तं सर्वमाचरेत्।
कर्मेदं मे कुरूस्वेति याचेताचार्यमादरात्।। — समूर्त्तार्चनाधिकरण 21/1-5

पाञ्चरात्र संहिताओं में प्रपञ्चित आचार्य लक्षण बड़े ही सुन्दर हैं। स्थलीपुलाक न्याय से कुछ लक्षण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। *जयाख्यसंहिता* में गुरु की महिमा बखानते हुए कहा गया है—

शास्त्रायत्ता यतः सर्वे भोगमोक्षादयो द्विजाः।
वैष्णवं ज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद् गुरुम्।।
पूजयेद्वाङ्मनः कायैस्स शास्त्रज्ञस्स वैष्णवः।....
ज्ञानस्य साधनं शास्त्रं तच्छास्त्रं गुरुवक्त्रगम्।
ब्रह्मप्राप्तिरतो हेतोर्गुर्वधीना सदैव हि।।
हेतुनाऽनेन वै विप्रा गुरुर्गुरुतमः स्मृतः।
यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम्।। — 1.57-63

इसी संहिता में अन्य स्थल पर आचार्य पद की असाधारण विशेषता प्रतिपादित है।[१]

१. *जयाख्यसंहिता* 18/69-82

अहिर्बुध्न्यसंहिता में वैष्णव आचार्य के स्वरूप का सुन्दर निरूपण किया गया है—

वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः।
ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः।।
अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम्।
अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः।।
दयावान् सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये।
पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षावान् कुबुद्धिषु।।
तपःसन्तोषशौचाढयो योगस्वाध्यायतत्परः।
पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तन्त्रान्तरविचक्षणः।
तन्त्राणामन्तरज्ञश्च मन्त्राणां कृत्यतत्त्ववित्।
पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः।।
सामान्यस्यापवादस्य वेत्ता यन्त्रविचक्षणः।
कुण्डमण्डलभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः।।
अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः।
सदन्ववायसम्भूत आचार्यो नाम वैष्णवः।। — *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, 20/2-7

प्रायः इसी सदृश वर्णन *लक्ष्मीतन्त्र* में भी प्राप्त होता है। शक्र ने श्री से प्रश्न किया कि हे देवि! किस प्रकार का आचार्य और किस प्रकार का शिष्य होना चाहिए। मोक्ष प्राप्ति में कौन-सा मन्त्र समर्थ होता है तथा उस मन्त्र का उपदेश किस प्रकार किया जाना चाहिए—

आचार्यः कीदृशो देवि शिष्यतस्य च कीदृशः।
मन्त्रेषु कतमो मन्त्रः प्रभवेत् परमाप्तये।।
कथं स चोपदेष्टव्य एतद् ब्रूहि नमोऽस्तु ते। — *लक्ष्मीतन्त्र*, 21/29-30

इस प्रकार शक्र के द्वारा पूछे जाने पर श्री ने आचार्य के लक्षणों का वर्णन किया है। श्री के अनुसार आचार्य को समस्त शुभ लक्षणों से युक्त होना चाहिए। उसे एक वैदिक या वेदज्ञ विप्र होना चाहिए। उसे अध्ययन-अध्यापन आदि स्वविहित षट्कर्मों में निरत होना चाहिए। उसे शान्त, पञ्चकालपरायण, शुचि, पाञ्चरात्रविशारद तथा मन्त्राक्षरों की प्रकृति ज्ञान के लिए कृतश्रम होना चाहिए, उसे स्थूल, कृश, ह्रस्व, काण, रोगी, अन्धा, क्रोधी, लोभी, अकुलीन, दुराचारी, शठ, कुटिल नहीं होना चाहिए। दया, दम तथा शम गुणों से सम्पन्न होना चाहिए, सत्यभाषण, शीलसम्पन्न, उसे जितेन्द्रिय, सुसन्तुष्ट, कारुणिक होना चाहिए, शुभ लक्षणों से और ऋजुता से सम्पन्न होना चाहिए तथा चारुहास वाला बताया गया है। वैष्णव गुरु को इस प्रकार के गुणगण से आकीर्ण समझना चाहिए—

सर्वलक्षणयुक्तो ब्राह्मणो वेदपारगः।
षट्कर्मनिरतः शान्तः पञ्चकालरतः शुचिः।।
पञ्चरात्रार्थविन्मौनी मन्त्राक्षरकृतश्रमः।
न स्थूलो न कृशो ह्रस्वो न काणो नैव रोगवान्।
नान्धो न बधिरो मूढो न खल्वाटो न पङ्गुकः।
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो न श्वित्री न च दाम्भिकः।।
न क्रोधनो न दुश्चर्मा न लोभोहतचेतनः।
अकुलीनं दुराचारं शठं जिह्मं च वर्जयेत्।।
दयाशान्तिशमोपेतं दृढभक्तिं क्रियापरम्।
सत्त्ववाक्शीलसम्पन्नं रेखाकर्मसु कौशलम्।।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं करुणापूर्णमानसम्।
आर्यलक्षणसम्पन्नमार्जवं चारुहासिनम्।।
एवं गुणगणाकीर्णं गुरुं विद्यात्तु वैष्णवम्।। —*लक्ष्मीतन्त्र*, 21/30-36

जीवन में सिद्धि के लिए गुरु अनिवार्य है। पञ्चशुद्धियों के पश्चात् गुरु की कृपा प्राप्त होती है। ये हैं—1. आचार शुद्धि, 2. बुद्धिशुद्धि, 3. जातिशुद्धि, 4. लक्षणशुद्धि तथा 5. देहशुद्धि। आचारशुद्धि के अन्तर्गत यह निर्दिष्ट है कि आचार्य को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए तथा किस प्रकार का आचरण नहीं करना चाहिए।[१] बुद्धिशुद्धि का तात्पर्य यह है कि आचार्य को धन का लोभ तथा गुरु का अतिलंघन नहीं करना चाहिए। वैष्णवों के प्रति अशुभ तथा समस्त प्राणिवर्ग के प्रति नृशंस बुद्धि नहीं करनी चाहिए। परधन तथा परदार से दूर रहना चाहिए। एतदतिरिक्त अहंकार, असूया, मान तथा अशुभ बुद्धि से बचना चाहिए।[२] जाति शुद्धि के अन्तर्गत यह कहा गया है कि वर्ण की दृष्टि से आचार्य कौन हो सकता है त्रिवर्णों के अतिरिक्त शूद्र किसी भी दृष्टि से आचार्य नहीं हो सकता। ब्राह्मण आचार्य की अनुपलब्धता में क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र का आचार्य तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों आचार्यों की अनुपस्थिति में वैश्य शूद्र का आचार्य हो सकता है।[३] तत्पश्चात् संकर जातियों का विशद विवेचन करते हुए यहाँ निर्दिष्ट है कि उनमें कौन किसका आचार्य बनने योग्य है।[४] जाति शुद्धि के अन्तर्गत वर्णों में वर्णसंकरों में आचार्यत्व की योग्यता निर्धारण करने के बाद लक्षणशुद्धि का प्रतिपादन किया गया है। इसके अन्तर्गत शारीरिक लक्षणों का स्वरूप निर्दिष्ट है जिसमें आचार्य के पैरों में तथा हाथों में ऊर्ध्व

---

१. *सनत्कुमारसंहिता*, इन्द्ररात्र, 9/1-9
२. *सनत्कुमारसंहिता*, इन्द्ररात्र, 9/9-12
३. *सनत्कुमारसंहिता*, इन्द्ररात्र, 9/13-15
४. *सनत्कुमारसंहिता*, इन्द्ररात्र, 9/15-50

रेखा हो, ललाट पर त्रिपताका हो, हथेली पर सिंह, मृग, कलश, तोरण तथा वेदि वह आचार्यत्व के योग्य होता है। पैरों तथा हाथों में शङ्ख, चक्र, मत्स्य और यव हो, वह आचार्य बनने योग्य होता है। जिसकी हथेली पर पद्म, स्वस्तिक, भेरी तथा प्रणव का चिह्न हो वह आचार्य बन सकता है, जिसकी हथेली पर श्रीवृक्ष, अङ्कुश, शक्ति तथा वनमाला का चिह्न हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है। जिसके हस्ततल पर करक, मणिक, जिसकी अंगुलियाँ समवृत्त हों, नासिका तुंग हो, अतिरिक्ताङ्ग और अतीन्द्रिय न हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है।[१] एतावता लक्षण शुद्धि के पश्चात् देहशुद्धि का विवेचन किया गया है जो अधोलिखित है—

असूतप्रेतकान्नाशी न मांसमधुभोजनः।
आचार्यः शुद्धदेहः स्यादपर्युषितभोजनः।।

— *सनत्कुमारसंहिता*, इन्द्ररात्र, 20/8-9

सुस्पष्ट है कि प्रेतान्न, मांस, सूतकान्त आदि अन्न का सेवन न करने वाला आचार्य शुद्ध देह होता है। *भारद्वाजसंहिता* के मत में स्त्री तथा शूद्र आचार्य के अयोग्य कहे गये हैं। निम्नजाति तथा निम्नवय वाला उत्कृष्ट जाति तथा उत्कृष्टवय वाले का सामान्यतया आचार्य नहीं हो सकता है। स्त्री, शूद्र, प्रतिलोमजात तथा पतित मन्त्रोपदेश करने के योग्य नहीं है। इस नियम का अपवाद भी है। भगवत् तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले योगिजन सभी योनियों में जन्म लेते हैं, इसके कारण इनके कुलादि का विचार नहीं किया जाता। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि हीनकुल में पैदा हुए ये योगिजन आचार्यत्व के अयोग्य है। वस्तुतः वे भी आचार्यत्व के लिए सर्वथा अर्ह है—

आचार्यः कुलजातोऽपि ज्ञानभक्त्यादिवर्जितः।
न च हीनवयोजातिः प्रकृष्टानामनापदि।।
न जातु मन्त्रदा नारी न शूद्रो नान्तरोद्भवः।
नाभिशस्तो न पतितः कामकामोऽप्यकामिनः।।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव बोधयेयुर्हिताहितम्।
यथार्हं माननीयाश्च नार्हन्त्याचार्यता क्वचित्।।
किमप्यत्राभिजायन्ते योगिनः सर्वयोनिषु।
प्रत्यक्षितात्मनाथानां नैषां चिन्त्यं कुलादिकम्।। — *भारद्वाजसंहिता*, 1.43

पाञ्चरात्र-आगम संहिताओं में सद्गुरु के इन लक्षणों के साथ-साथ सुशिष्य के लक्षण पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। *अहिर्बुध्न्य संहिता* (20.8-9) में कहा गया है कि श्रेयस का इच्छुक, समाहित, विनयव्रतशाली, ब्राह्मण, संस्कृत, शुचि, पवित्र, धीमान, स्वदार-निरत, निश्च्छल अपने द्वारा कृत तथा

१. *सनत्कुमारसंहिता*, इन्द्ररात्र, 9/50-60

अकृत कर्म का निवेदन करने वाला शिष्य गुरु का आश्रयण करे। *श्रीमद्भागवत* (1.1.8) में लिखा है कि शिष्य में स्नेह हो तो गुरु गुप्त से गुप्त रहस्य बता देते हैं। गुरु गाय है तथा शिष्य बछड़ा है। *श्रीमद्भगवद्गीता* (2.7) में भी साक्षात् श्रीकृष्ण गुरु है और शिष्यरूप में अर्जुन। सद्गुरु पूर्ति पर्यन्त हृदय में रहकर साधक के साथ चलते हैं। यदि वे साथ न रहें तो, साधक पार न हो—शर्त है कि शिष्य गुरु के पास जाय और निवेदन करे कि मैं संसाराग्नि के मध्य में स्थित अपने कर्मों से जीर्ण होता हुआ आपकी शरण में आया हूँ।[१] यही कारण है कि सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं कि गुरु सेवा ही भाग्य की जननी है क्योंकि जिस जीव की स्थिति परम शोचनीय हो, उसे भी यह ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करा देती है।[२]

पाञ्चरात्रिक-परम्परा में गुरुतत्त्व अक्षय कोष है। बिना गुरु के गति नहीं। धरती पर गुरु ही शिष्य के कान में 'मन्त्रोपदेश' करते हैं। *जयाख्यसंहिता* के अनुसार समस्त प्राणियों विष्णुतत्त्व विराजमान है अस्तु सभी को दीक्षा देनी चाहिए—

यः समः सर्वभूतेषु विरागी वीतमत्सरः।
जितेन्द्रियः शुचिर्दक्ष समग्रावयवान्वितः।।
कर्मणा मनसा वाचा भीतेष्वभयदः सदा।
सम्बुद्धिपदसम्प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः।।
विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं चानेकभेदगम्।
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसर्पितान्।। — *जयाख्यसंहिता*, 16/7-10

जिस साधक की परमपिता परमेश्वर में परम भक्ति होती है और उसी प्रकार अपने गुरु में भी, उसके हृदय में ही रहस्यमय कर्म प्रकाशित होते हैं। गुरु के प्रति यह श्रद्धा तथा भक्तिभाव जिज्ञासु शिष्य का सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। उस रिक्तता को बोध, जिससे वह अपूर्ण अधूरा है तथा अखण्डत्व से वञ्चित। गुरु की श्रद्धा एवं भक्ति और उसके अनुग्रह से वह पूर्णता, अखण्डतत्त्व की प्राप्ति करता है और आत्मतत्त्व का दर्शन कर परम-चिरन्तर आनन्द की उपलब्धि करता है। अन्त में *गुरुगीता* (339) का यह आदेश अकाट्य है—

ओमच्युताय गुरवे शिष्यसंसारसेतवे।
भक्तकार्यैकसिंहाय नमस्ते चित्सुखात्मने।।

सहायक आचार्य, धर्म-आगम विभाग,
काशीहिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, 20/10

२. *हिन्दी ज्ञानेश्वरी*, अध्याय 13

तन्त्रसांख्ययोः सृष्टिविमर्शः

शशिकान्ततिवारी

तन्त्रशब्दः तन् धातुना ष्ट्रन प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। अस्यार्थो विस्तरीकरणं वर्तते। तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्। तन्त्रस्य निरुक्तिः तन् (विस्तारः) त्रै (रक्षा) अनेन धातुद्वयेन सिद्ध्यति। तात्पर्यमिदमस्य यत् येन विपुलार्थविस्तारेण सह तदनुकूलमाचरणशीलानां मानवानां रक्षां त्राणं विधीयते तत् तन्त्रम्। शैवसिद्धान्तस्य प्रख्याततन्त्रग्रन्थे *कामिकागमे* तन्त्रस्य निरुक्तिरित्थं प्राप्यते यथा—

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्या भिधीयते।। — *कामिकागमे।*

अत एव तन्त्रस्य व्यापकार्थे शास्त्रसिद्धान्तानुष्ठानविज्ञानेत्यादिग्रन्था आयान्ति। एतस्य व्यापकार्थस्य प्रयोगा बहुशः सर्वत्र कृताः उपलभ्यन्ते। *महाभारते* च न्यायशास्त्रस्य धर्मशास्त्रस्य योगशास्त्रस्य च तन्त्र–कृते शब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। भगवत्पादेन शङ्कराचार्येण तन्त्रशब्दस्यास्य प्रयोगः सांख्यदर्शनस्य कृते कृतो वर्तते। यथा–

स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता। — *ब्रह्मसूत्रे।*

ज्ञातव्यमेतत् यत् आचार्यकपिल आदिविद्वान् वर्तते अत एवायं परमर्षिनाम्नाभिधीयते आचार्येणानेन प्रणीतसांख्यशास्त्रं स्मृतिसंज्ञया तन्त्रसंज्ञयापि उच्यते। परन्तु तन्त्रशब्दस्यास्यार्थः प्रयोगश्च संकुचितरूपेण लोकेव्यवहारे प्रयुज्यते। अस्याभिप्रायस्तैर्ग्रन्थैः सह वर्तते ये मन्त्रकीलकवचादिसमन्वितविशिष्टसाधनमार्गोपदेशकाः वर्तन्ते।

अस्यैवान्यत् प्रख्यातं नाम आगमो वर्तते। वाचस्पतिमिश्रमहोदयेन योगभाष्यस्य स्वकीयायां तत्त्वैशारदिव्याख्यायामित्थमागमशब्दस्यास्ति कृता व्युत्पत्तिर्यथा **आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदयनिः–श्रेयसोपायाः स आगमः** अर्थात् येन लोककल्याणस्य मोक्षस्य मार्गोऽवाप्यते स आगमः। अत एवेदं भणितुं शक्यते यत् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायप्रतिपादकशास्त्रमागमपदवाच्यम्। **ज्ञायते कर्मोपासनाज्ञानस्वरूपं येन सः निगमः,** एतत्साधनभूतोपायं ज्ञापयेत् यत् तत् आगमतन्त्रपदवाच्यञ्च फलतः परस्परं शास्त्रद्वयमेव उपकारि शास्त्रं वर्तते। शास्त्रेषु आगमलक्षणानि बहुशः प्राप्यन्ते। वाराहीतन्त्रानुसारमागमस्य सप्तलक्षणानि वर्तन्ते यथा—सृष्टिः, प्रलयः, देवार्चनम्, सर्वसाधनम्, पुरश्चरणम्, षट्कर्म, ध्यानयोगश्च।

इमे सप्तविषयाः लक्षणानि व्यापकत्वेन आगमविषयसंकेतं प्रकटयन्ति वर्तन्ते। तन्त्रस्य सर्वाङ्गीण–ज्ञानाय प्रथमतः देवतास्वरूपगुणकर्मादीनां चिन्तनं क्रियते तद्विषयकमन्त्राः उद्ध्रियन्ते ततः तेषां मन्त्राणां यज्ञेषु संयोजनं

विधाय देवतागतध्यानस्योपासनायाश्च वर्णनं क्रियते। उपासनेयञ्च पञ्चाङ्गसमन्वितत्वादेव पुष्ट्यते। पञ्चाङ्गानि च—पटलपद्धतिकवचसहस्रनामस्तोत्राणि चा यथा निगमस्य वेदस्य वैशिष्ट्यं ज्ञानभूतं वर्तते तथैव तन्त्रस्य वैशिष्टयं क्रियाभूतम्। आशयोऽयं यत् वैदिकग्रन्थेषु निर्दिष्टस्य ज्ञानस्य विधानात्मक आचार एवागमस्य प्रमुखविषयो वर्तते। तन्त्रस्य मुख्यं लक्ष्यं व्यावहारात्मकत्वमस्ति। प्राधान्येनास्य तन्त्रस्य त्रयो विभागाः भेदाश्च वर्तन्ते—ब्राह्मणतन्त्रम्, बौद्धतन्त्रम्, जैनतन्त्रं च। ब्राह्मणतन्त्रमपि उपास्यदेवताभिन्नत्वात् प्रकारत्रयात्मकम् यथा— (1) वैष्णावगमः, (2) शैवागमः, (3) शाक्तागमश्च।

भगवतो विष्णोः स्वातन्त्र्यशक्तिः भिन्नभिन्नगुणैः भिन्नैर्भिन्नैर्नामभिः ज्ञायते। यथा आनन्दा स्वतन्त्रा लक्ष्मीः श्रीपद्मा इत्यादि तस्या एवं एकैकं नामान्तरं वर्तते। तस्या एव लक्ष्म्याः सृष्टिकाले स्वरूपद्वयं जायते क्रियाशक्तिः भूतशक्तिश्च। भगवतः जगतसिसृक्षा क्रियाशक्तिरुच्यते। *अहिर्बुध्न्यसंहितायां* लक्ष्मीः इच्छाशक्तिः, एवं सुदर्शनं क्रियाशक्तिः कथ्यते। एतच्छक्तिद्वयाभावे स्वयं भगवानकिञ्चित्करो वर्तते। शक्तिद्वयसद्भावे एव भगवान् जगतः सृष्टिस्थितिसंहृतिरूपव्यापारोत्पादको वर्तते। लक्ष्म्याः स प्रथम आविर्भावः शुद्धसृष्टिः कथ्यते। यदा तरङ्गरहिते प्रशान्ताकरे प्रथमबुदबुद इव परब्रह्मणि ज्ञानादिषड्गुणानां प्रथमोदयो भवति तेनैव शक्तिविकासेन जगतः सृष्टिः सम्पन्नाजायते। इयञ्च सृष्टिः शुद्धशुद्धेतरभेदेन प्रकारद्वयात्मिका जायते। एतस्यामेव शुद्धसर्ग–प्राधानिकसर्ग–ब्रह्मसर्गाणामन्तर्भावः जायते।

भगवता जगतः परममङ्गलाय स्वयमेव स्वस्य चतुर्णां रूपाणां सृष्टिः क्रियते। यथा व्यूहसृष्टिः, विभवसृष्टिः, अर्चावतारसृष्टिः, अन्तर्यामीसृष्टिश्च। पूर्वकथितेषु षडगुणेषु गुणद्वयेन द्वयेन च व्यूहत्रययस्य सृष्टिर्जायते–संकर्षणव्यूहः प्रद्युम्नव्यूहः, अनिरुद्धव्यूहश्च। तत्र संकर्षणव्यूहे ज्ञानगुणानां बलगुणानां प्राधान्यं वर्तते। प्रद्युम्नव्यूहे ऐश्वर्यगुणानां वीर्यगुणानामाधिक्यं भवति। एवञ्च अनिरुद्धव्यूहे शक्तिगुणानां तेजोगुणानामुद्रेको वर्तमानेन तिष्ठति। एतेषां त्रयाणा सर्जनात्मकं शिक्षणात्मकञ्च द्विविधं कार्य भवति। संकर्षणेन जगतः सृष्टिः क्रियते ऐकाधिकमार्गस्य चोपदेशः प्रदीयते। प्रद्युम्नेन च ऐकान्तिकमार्गसम्मतक्रियायाः शिक्षा मोक्षतत्त्वशिक्षणञ्च प्रदीयते। वैषम्यदशायां गुणप्रधानभावेन षड्गुणानां व्यवस्था सम्पाद्यते। एते च षड्गुणाः चतुर्ष्वेव व्यूहेषु सामान्यतः विद्यमाना भवन्ति। परन्तु प्रत्येकं व्यूहे गुणद्वयमेव प्राधान्येन भवति। वासुदेवं संयोज्यायं चतुर्व्यूहपदवाच्यो भवति। चतुर्व्यूहोऽयं भगवत्स्वरूपमेव। परन्तु शङ्कराचार्योल्लेखद्वारा वासुदेवादेवस्य संकर्षणस्य जीवस्योत्पत्तिर्जायते। सङ्कर्षणात् प्रद्युम्नस्य मनसः, प्रद्युम्नादनिरुद्धस्य अहंकारस्योत्पत्तिर्जायते। अर्थात् संकर्षणः जीवः, प्रद्युम्नः मनः, अनिरुद्धः अहंकारः। अयमेव चतुर्व्यूहसिद्धान्तः पाञ्चरात्रस्य विशिष्टः सिद्धान्तो मन्यते। *जयाख्यादिसंहितासु* मतमिदं नैव प्राप्यते, परन्तु *नारायणोपाख्याने लक्ष्मीतन्त्रे* च विषयोऽयं प्रतिपादितोऽवलोक्यते।

विभवः—विभवस्यार्थः अवतारो भवति यस्य च संख्या नवत्रिंशत् वर्तते। अयञ्च विभवः प्रकारद्वयात्मको वर्तते। मुख्यविभवः गौणविभवश्च पद्मनाभध्रुवमधुसूदनकपिलत्रिविक्रमादिणां गणना विभव एव क्रियते।

अर्चावतार:—पञ्चरात्रविधिना पवित्रे कृते सति प्रस्तरादिमूर्त्तयोऽपि भगवदवातारा: स्वीक्रियन्ते। सर्वसाधारण-पूजायामप्यस्योपयोगी भवति। एवच्चार्चावतारपदवाच्यम्।

अन्तर्यामी—भगवान् सर्वदैव सर्वप्राणिनां हृत्पुण्डरीके स्थित्वा तत्समस्तव्यापाराणां नियामको मन्यते। रूपमिदम् अन्तर्यामिपदवाच्यम्। कल्पनेयमुपनिषदोऽधिकृत्यैव सम्पाद्यते।

शुद्धेतरसृष्टि:

शुद्धसृष्टिमाधृत्य शुद्धेतरसृष्टेस्तित्वमङ्गीक्रियते। अस्या: सृष्टे: क्रम: इत्थं यथा—प्रद्युम्नात् कूटस्थपुरुष:, कुटस्थपुरुषात् मायाशक्ति:, ततो नियति:, नियतित: काल:, कालाच्च, सत्त्वगुण:, तस्मात्-तमोगुण:, तत: बुद्धि:। क्रमोऽयं अहिर्बुध्यसंहितादिशा वर्तते। *जयाख्यसंहितायामस्य* क्रम: किञ्चिद् भिन्नो वर्तते। अस्य सृष्टिक्रम: सांख्यसृष्टिरिव प्रायश: वर्तते यथा सांख्ये सृष्टिक्रम: सांख्यकारिकायमित्थं वर्तते—

प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्तमाद् गणश्च षोडशक:।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य: पञ्चभूतानि। — *सांख्यकारिका, 22*

अर्थात् प्रकृति: प्रधानं, ब्रह्म, अव्यक्तम्, माया, एतानि नामानि पर्यायभूतानि। अलिङ्गस्य प्रकृते: सकाशान्महानुत्पद्यते। महान् बुद्धिरासुरीमति: ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते। अहङ्कारो भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्याया:। तस्माद्गणश्च षोडशक:। तस्मादहङ्कारात् षोडशक: अर्थात् षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते। स यथा—पञ्चतन्मात्राणि-शब्दन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्रसूक्ष्मपर्यायवाच्यानि। तत: एकादशेन्द्रियाणि, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुषी, जिह्वा घ्राणमिति पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकम् एकादशं मनश्च। एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते। किञ्च-पञ्चभ्य: पञ्च भूतानि तस्मात् षोडशकात् गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्य: सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यथा—शब्दतन्मात्रादाकाश-महाभूतम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुमहाभूतम्, रूपतन्मात्रात्तेजमहाभूतम्, रसतन्मात्राज्जलमहाभूतम्, गन्धतन्मात्राच्च पृथिवीमहाभूतम्। एवं पञ्चभ्य: तन्मात्रेभ्य: सूक्ष्मेभ्य: पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते।

अभिमानोऽहंकारस्तमाद द्विविध: प्रवर्तते सर्ग:।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पञ्चकश्चैव।।
स ात्त्विक एकादशक: प्रवर्तते वैकृतादहङ्करात्।
भूतादेस्तन्मात्र: स तामसस्तैजसादुभयम्।। — *सांख्यकारिका, 24-25*

अभिमाननव्यापारवत्त्वमहङ्कारस्य लक्षणम्। घटादिकमिन्द्रियैरालोच्य, मनसाऽभिमत्य पश्चात् यन्मया चक्षुरादीन्द्रियैरालोचितं दृष्टं, यच्च मया मनसा संकल्पितं, तत्र अहमधिकृत: कश्चिदस्ति, अतोऽहमस्मि इति यो नानाविधोऽभिमान:, सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारस्य लक्षणम्। तथा च अभिमाननाख्याऽसाधारण-व्यापारवत्त्वे

सति, करणत्वमहङ्कारस्य लक्षणम् फलम्। ईदृशमभिमानमहङ्कारव्यापारमुपजीव्य बुद्धिरध्यवसायाख्यं निश्चयं करोति – अत: कर्त्तव्यमेतत्कार्यं मया इति। क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया च कारिकायामभेदेन प्रयोग: अभिमानोऽहङ्कार:। तस्मादहंकारात् द्विविध: सर्ग: उत्पद्यते सात्त्विकात् वैकृतादहङ्कारात् एकादशेन्द्रियाणि पूर्वोक्तानि, एवं तामसादहङ्कारात् तैजसादङ्काराच्च तन्मात्राणि महाभूतानि चोत्पद्यन्ते।

तन्त्रगतसृष्टि: सांख्यसृष्टिरिव प्रकृतिपुरुषद्वारा स्वीकरोति। प्रकृति: पुरुषस्याध्यक्षे सृष्टिं सम्पादयति। परन्तु सांख्यदर्शने प्रकृति: स्वयं प्रवृत्ता भवति प्रत्युत तन्त्रे चुम्बकसान्निध्ये यथा लौहगतिर्जायते तथैव प्रकृति: कार्ये प्रवृता भवति। पाञ्चरात्रमते त्रयाणां गुणानां सृष्टि: क्रमश: परस्परं गुणेभ्य एव जायते परन्तु सांख्ये नैव। शैवतन्त्रे शैवसिद्धान्तेन वेदान्तदर्शनाभिमता सृष्टिरङ्गीक्रियते यथा—

संसारोत्पत्तिसम्बन्धे यथा वेदान्तसम्प्रदायेषु भिन्नभिन्नमतमतान्तराणि प्रचलितानि वर्तन्ते, परिणामवादो विवर्तवादश्च। यदा भगवता परब्रह्मणा स्वस्वरूपमेव जगद्रूपेण निरूप्यते तत् विवर्तपदवाच्यम्। सिद्धान्तेनानेन जगत: मिथ्यात्वम्। यतो हि जगतो अस्तित्वं ब्रह्मण: पृथक् नैव वर्तते। परन्तु परिणामवाद: एतस्मात्पृथक्। यथा दुग्धस्य विकारभूतं परिणामस्वरूपं दधि अन्य: पदार्थ: यस्य च सत्ता दुग्धात् पूर्णत: पृथक् सर्वत्रा वर्तते। तथैव परब्रह्मण: शिवस्य शक्तिद्वारा यस्य च जगत: सृष्टि: जायते तत् सत्यम्। तथा परिणामजन्यत्वात् सृष्टिरियं परिणामवादनाम्ना निगद्यते। वीरशैवमतावलम्बिन: मतमिदं किञ्चित् वैभिन्न्येन स्वीकुर्वन्ति तेषां मतं यत् यथा कच्छपा: स्वाङ्गानि बहि: निस्सार्य जले तरन्ति। एवं तानि संकूच्य स्थिराश्च भवन्ति तथैव परशिव: एकस्मिन् काले जगत: विकासं सम्पादयति अन्यस्मिन् च काले संहरति स्वस्मिन् लयं करोति। कच्छप: यदाङ्गानि बहि: करोति तदाङ्गानि उत्पादयति, यदा संकुचित तदा अङ्गानि नाशयति। वार्तेऽयं नोचिता। तथैव सत्यस्य नित्यस्य च जगत: उत्पत्तिनाशश्च नैवोचितम्। तदित्थं तन्त्रशास्त्रे सांख्यशास्त्रे च सृष्टिक्रमविषये यत् यत् साम्यं यच्च वैषम्यं तच्च मया लघुनिबन्धेस्मिन् उपस्थापयितुं प्रयासो विहित:।

शोधच्छात्र: (वैदिकदर्शनविभाग:)
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय:, काशीहिन्दूविश्वद्यालय:
वाराणसी-221005
दूरभाषसंकेत: 9889123124

तान्त्रिक रहस्यलोक का उत्सव : नवरात्र

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ल पक्ष में तथा चैत्र शुक्लपक्ष में क्रमश: शारदीय और वासन्ती नवरात्र पर्व मनाया जाता है। आश्विन मास से प्रारम्भ होने वाला शरत्काल आजकल तो उत्तर भारत में रामचरित्र लीलादृश्यों को लेकर उतरता है। आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन सायंकाल होने वाली रामलीलाओं ने जिस प्रकार नवरात्रों का रामनाम के साथ जोड़ दिया है उसी प्रकार विजयदशमी को भी राम की रावण पर विजय का पर्व बताने वालों ने रामकथा में गूँथ दिया है। ऐसी मान्यताएँ कब, क्यों, कहाँ और कैसे शुरू हुई इस पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। यह भी स्पष्ट है कि नवरात्रों का सम्बन्ध राम से न होकर मूलत: तन्त्र के शाक्त मत से है जिसके अनुसरण में देश में दुर्गा, चामुण्डा, वैष्णवी देवी, काली, शिलादेवी जैसी देवियों की पूजा आराधना की जाती रही है। देश के पूर्वी अंचल में, विशेषकर बंगाल में, शरत्काल 'पूजा' अर्थात् दुर्गापूजा के महोत्सवों को लेकर आता है और वहाँ पूजा का उत्सव वर्ष का प्रमुख उत्सव और पूजा का अवकाश वर्ष का प्रमुख अवकाश माना जाता है।

तन्त्र का वैदिक उत्स

नवरात्र में देवीपूजा की परम्परा भी इस देश की बहुत पुरानी आराधना पद्धति रही है और विश्व में मातृशक्ति की पूजा की आदिम परम्परा में जुड़ी हुई है। वेदों में जहाँ-जहाँ वाक्शक्ति का या परावाक् का उल्लेख है उसे देवी पूजा का स्रोत मानकर उसे वैदिककाल से जोड़ने वाले भी अनेक मत प्रचलित हैं। मध्यकाल में कर्मकाण्ड की प्रचलित पद्धतियों के कारण एक ऋचा को जो मूलत: वाक्शक्ति के प्रसङ्ग में उसकी व्यापकता बताती है। निरुक्त में यास्क के एक संकेत को देखकर गौरी का मन्त्र माना गया होगा जो आज भी गौरी आदि 16 देवियों (षोडश मातृकाओं) के पूजन में या गौरी अथवा दुर्गा के पूजन में उन्हीं का मन्त्र मानकर बोला जाता है। '**गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती**' से शुरू होने वाले इस मन्त्र के प्रारम्भ में 'गौरी' शब्द आता है और कुछ निरुक्तकार इसे गौरी शब्द मानते भी हैं अत: इसे गौरी का मन्त्र माना जाता है जबकि मूलत: इसमें गौरी शब्द है ही नहीं, इसमें जो संधि है वह है 'गौ:+ई:-मिमाय' आदि। यह गतिशील वाक्तत्त्व के अष्टपदी, नवपदी, सहस्राक्षरा आदि रूपों के व्यापकत्व का संकेत करता है। शायद उसी पराशक्ति के रहस्यात्मक चिन्तन ने तन्त्रशास्त्र को जन्म दिया होगा इस दृष्टि से इस मन्त्र की सङ्गति हो सकती है किन्तु इसका प्रारम्भ 'गौरी' शब्द से न होकर 'गौ:' शब्द से होता है, संदर्भ को देखने से लगता है। यह

शायद बहुत कम लोग ही जानते हैं। यास्क ने यहाँ गौर और गौरी शब्द की योजना किसी अन्य प्रसङ्ग में अवश्य बताई है।

वेदकाल में शक्तिपूजा का क्या स्वरूप रहा होगा इसके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है किन्तु शैव और शाक्त आराधना पद्धतियों को बहुत व्यापक, सुगठित और बहुमान्य आधार पर स्वरूप दिशा तन्त्र ने, जिसका अपना दर्शन, अपना विज्ञान, अपनी उपासना प्रणाली और इतना व्यापक शाखा-प्रशाखा विस्तार है कि उसका आकलन अब तक संभव नहीं हो पाया है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि तन्त्रविद्या को प्रारम्भ से ही इतना गोपनीय और रहस्यात्मक बनाकर रखा गया कि उसका प्रचार तो दूर, गुपचुप किसी को बताने या गुरु द्वारा शिष्य को दिये जाने में भी कट्टर गोपनीयता बरती गई। यही कारण है कि तन्त्र का अधिकांश साहित्य आज भी अमुद्रित है, बहुत-से ग्रन्थ प्रकट हुए बिना ही एकान्त अन्धेरों में खो गये या सदा के लिए सो गये। वर्ष में शरत्काल के नौ दिनों तक की जाने वाली देवीपूजा के समय जिसे नवरात्र पूजन कहा जाता है, पूरा देश एक बार फिर इस तान्त्रिक पूजापद्धति के कुछ दृश्य देख लेता है और हजारों वर्ष पुरानी तान्त्रिक परम्परा की स्मृतियाँ ताजा कर लेता है।

पौराणिक दुर्गापूजा

नवरात्रों में देवी के मन्दिरों में जो पूजाएँ की जाती हैं, या परिवारों में जो दुर्गापूजा होती है उसमें देवी दुर्गा के उस स्वरूप की पूजा की जाती है जो मूलत: पौराणिक परम्परा की देवी है और जिसे *मार्कण्डेयपुराण* के उन तेरह अध्यायों में निबद्ध देवी चरित्र की नायिका मानकर, असुरों का संहार करने वाली, सांसारिक मोहबन्धनों को काटने वाली तथा अभय एवं विजय प्रदान करने वाली देवी के रूप में पूजा जाता है। इन तेरह अध्यायों में लगभग सात सौ श्लोक हैं अत: इसे *दुर्गासप्तशती* भी कहा जाता है। देवी के आराधक नवरात्र भर प्रतिदिन इस दुर्गासप्तशती का पाठ करते हैं। इस पौराणिक आख्यान के तीन भाग करके एक को 'महाकाली' की, दूसरे को महालक्ष्मी की और तीसरे को सरस्वती की पूजा के साथ जोड़ कर क्रमश: शिव, विष्णु और ब्रह्मा की शक्तियाँ बता दिया गया है और इस प्रकार पौराणिक आख्यानों के साथ तान्त्रिक रहस्य को गूंथकर साथ ही उसमें वैदिक 'रात्रिसूक्त' जैसी कुछ ऋचाओं को जोड़कर वैदिक परम्परा, पौराणिक आख्यान और तान्त्रिक रहस्योपासना की त्रिवेणी बहा दी गई है। पुरानी परम्पराओं के साथ नई पद्धतियों का समन्वय करते चलने की यह प्रवृत्ति भारत की संस्कृति की एक अनूठी विशेषता है।

वस्तुत: वैदिक बहुदेववाद, वैज्ञानिक तत्त्वविमर्श और ऋषिप्रज्ञा के मूर्त विश्व चिन्तन के बाद उपनिषदों की गम्भीर दार्शनिक तत्त्वजिज्ञासा और गूढ, अमूर्त बौद्धिक चिन्तासरणि के समन्वय के फलस्वरूप तन्त्रविद्या ने एक अद्भुत, व्यापक और निगूढ जीवनदृष्टि को जन्म दिया जिसने सारे देश में फैलकर, चीन और भोट (तिब्बत) देश तक फैली बौद्ध उपासना पद्धति, यौगिक क्रियाओं में प्रतिफलित होने वाले तथा यम-नियम-आसनादि द्वारा शरीर की तन्त्रिकाओं, नाड़ियों और मानसिक ग्रन्थियों को नियन्त्रित करने वाले हठयोग या राजगुह्ययोग के क्रियात्मक पन्थ तथा यन्त्र और मन्त्र का पारस्परिक समन्वय कर एक सुव्यवस्थित शास्त्र की

ही सृष्टि कर डाली जिसे तन्त्र शास्त्र की इन्द्रधनुषी, अपरिभाषित और गुप्त झिलमिलाहट के रूप में आज भी अनुभूत किया जा सकता है। इसकी धूम विदेशों तक पहुँच चुकी है पर यह समूचा ताना बाना क्या है, इस पर अटकलें तो लगायी जाती रही हैं उसे समग्रता में उतार कर समझाया नहीं जा सका है, चाहे सर जॉन बूडरफ जैसे कुछ विदेशी खोजियों ने इस पर अंग्रेजी में पुस्तकें लिखी हों और गोपीनाथ कविराज जैसे कुछ मनीषियों ने इस युग में आकर हिन्दी माध्यम से भी इसके रहस्य की परतें खोलने का प्रयत्न किया हो।

तन्त्र का रहस्यलोक

जिस प्रकार वैदिक तत्त्व चिन्तन सृष्टि प्रक्रिया का, प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों का, ब्रह्माण्ड के विभिन्न निकायों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार तन्त्र विश्वव्यापक चैतन्य को, समष्टि में और बाह्य जगत में व्याप्त 'चित्' की धारा को, स्वयं के भीतर खोजता है। द्रव्य की, तत्त्वों की, पदार्थों की बाहरी खोज को वह एक चैतन्यात्मक, अन्तर्मुखी मोड़ देता है, सृष्टि को, ब्रह्माण्ड को, एक ज्यामितिक आकार में भावनात्मक धरातल पर अन्तर्भूत कर, कुछ नादात्मक मातृकाओं (बीजमन्त्रों) को अनुस्वरात्मक अनुरणन में अनुभूत करता है और समष्टिचेतना को व्यष्टि में उतारकर अपने आपको किसी रहस्यात्मक, सुगुप्त कोने में उस अदृश्य शक्ति को आत्मसात् कर लेता है। जहाँ वैदिक ज्ञान और परा विद्या, शुद्ध चैतन्य, ऊर्जा और अमूर्त शक्ति के रूप में रहस्य के धरातल पर उतरते हैं, ज्ञान क्रिया में परिणत होता है, स्थूल सूक्ष्म में, वहीं से तन्त्र की भावभूमि शुरू होती है। इसी रहस्यजगत् के गोपनीय प्रकोष्ठों में तन्त्र ने अपनी दार्शनिक मान्यताओं का एक समूचा तानाबाना खड़ा कर लिया है, विभिन्न उपासना पद्धतियों का एक विशाल, बहुरंगी संसार सृजित कर लिया है, उन दार्शनिक सिद्धान्तों के आलोक में रहस्यात्मक यन्त्रों के आरेख विकसित कर लिए हैं और शिव तथा शक्ति की उपासना के लिए अनेक रहस्यात्मक ध्वनियाँ (बीजमन्त्र) स्थापित कर दी हैं। तभी तो निगम (वेद) और आगम (शास्त्र) में कोई एक-दूसरे से कम नहीं है, जितना विस्तार और महत्त्व निगम का है उतना ही आगम (तन्त्र) का भी। शरीर के षट्चक्रों में चिच्छक्ति के उस सारे रहस्य को छिपाकर अपने मनोराज्य के अन्दर साधना के दर्पण में उसका साक्षात्कार करने वाली तान्त्रिक उपासना सैंकड़ों वर्षों से अनेक शैव और शाक्त मतों, सम्प्रदायों, पन्थों और पद्धतियों के मार्गों में फैल गई है। दुर्भाग्य यह है कि विदेशियों के सम्मुख या जनसाधारण के सम्मुख आज तन्त्र के नाम से उल्टी-सीधी टोने-टोटके जैसी उन क्रियाओं का ऐसा विकृत रूप ही आ रहा है जिनका तन्त्र से कोई सीध सम्बन्ध नहीं है। अर्धदग्ध, तथाकथित तन्त्रबीजों ने चटखारे लेने के लिए पञ्चमकार, श्मशान साधना, कापालिकों के अभिचार आदि की ऐसी कहानियाँ गढ़ ली हैं जिनसे तन्त्र का एक औपन्यासिक किन्तु नितान्त विकृत रूप उभरता है जो उसके वास्तविक स्वरूप का पता भी नहीं लगने देता।

शाक्त तन्त्र

चाहे वीर शैव, पाशुपत आदि शैवतन्त्र बहुत पुराने हों किन्तु साधनाभूमि में आकर तन्त्र की विभिन्न उपासना पद्धतियों में शाक्त उपासना ही प्रमुख हो गई, शैव उपासना अथवा भैरव आदि की उपासनाएँ उसी

का सैद्धान्तिक और आचारगत विस्तार रह गई। चिच्छक्ति की रश्मियों से इच्छाशक्ति को प्रबल करता हुआ तान्त्रिक साधक मन्त्रों के जप, यन्त्रों की पूजा, स्तोत्रों के पाठ, शक्ति के दृश्य चित्रों या मूर्तियों की पूजा आदि साधनाओं के अतिरिक्त शवसाधना और श्मशान साधना तक करते हुए इस देश के साहित्य और संस्कृति के साथ बड़े रहस्यात्मक रूप में जुड़ा हुआ है। वह चाहे कौल हो या वाममार्गी, कापालिक हो या अघोरी, अथवा सात्त्विक उपासना या दक्षिणाचार की उपासना का अनुयायी हो, उसी शक्ति पूजा के पथ का पथिक है। यह साधना चेतना शक्ति को प्रबल करती है। अन्य सिद्धियाँ इसी का अङ्ग हैं।

इस तान्त्रिक शक्तिपूजा की जो विभिन्न धारायें चलीं उनमें रहस्यात्मक उपासना में दश महाविद्याओं (गुह्यविद्याओं) की साधना की शाखा प्रमुख थी। उसीका एक अन्य आयाम पौराणिक नवदुर्गाओं के रूप में फैला। दश महाविद्याएँ हैं—काली, तारा, षोडशी, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, वल्गामुखी (जिसे बगलामुखी भी कहा जाता है), मातङ्गी और कमला। इन सबकी मानवीय रूप में अवधारणा करके इनके ध्यान विकसित किये गये। अलग-अलग बीजमन्त्र बताये गये तथा पूजा के विभिन्न प्रकार वर्णित किये गये। प्रत्येक देवी (शक्ति) की पूर्णता के लिए उनके शिव (जिन्हें क्रियात्मक उपासना में भैरव के रूप में पूजा जाता है) की अवधारणा की गई। शिव और शक्ति का यह संयोग ही तो इच्छा और क्रिया का संयोजन है। इन उपासनाओं को इतना गुप्त रखा जाता था कि इन महाविद्याओं का नाम लेना भी उचित नहीं समझा जाता था। आद्या (प्रथम महाविद्या अर्थात् काली) द्वितीया तारा इस प्रकार के संकेतों से इन्हें अभिहित किया जाता था। आज भी आद्याचरण या आद्यादत्त जैसे नाम कालीचरण या कालीदत्त के पर्याय के रूप में बंगाल, मिथिला आदि प्रदेशों में सुपरिचित हैं।

नवदुर्गाएँ

महाविद्याओं की तान्त्रिक उपासना के समानान्तर पौराणिक दुर्गापूजा की भी अनेक पद्धतियाँ तथा शृङ्खलाएँ विकसित हुई। सिंहवाहिनी दुर्गा के ही विभिन्न प्रतीकों के रूप में नवदुर्गाएँ गिनाई गई हैं जिनके नाम हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री। सैकड़ों वर्षों से चल रही कन्या पूजन (वर्जिनवर्शिप) की परम्परा के साथ ये नौ दुर्गायें जुड़ी हुई हैं। नवरात्र के नौ दिनों की गणना के साथ इनका तालमेल बैठ जाता है। इसीलिए साधक आश्विन शुक्ल अष्टमी को (जिसे महाष्टमी या दुर्गाष्टमी भी कहा जाता है) नौ कन्याओं का नवदुर्गाओं के रूप में पूजन करते हैं। महिषासुर मर्दिनी दुर्गा, चण्ड, मण्ड आदि का संहार करने वाली चामुण्डा और शुम्भनिशुम्भ आदि का वध करने वाली अम्बिकाशक्ति के चरित्र का महत्त्व स्पष्ट करने के लिए पौराणिक उपाख्यान प्रचलित हैं जिससे इनकी तान्त्रिक रहस्यात्मक उपासना के साथ भक्तिमार्ग का ऐसा सङ्गम हो गया है कि इनका नीरक्षीर-विवेक करना कठिन हो जाता है। बेशक, महाविद्याओं की उपासना तान्त्रिक यन्त्रों (आरेखों) से कुछ आगे भी बढ़ी तो केवल उनके मानवीकरण और देवी के रूप में ध्यान तक ही सीमित रही, उनके पौराणिक चरित्र वर्णित

नहीं किये गये। तन्त्र के रहस्य और पुराण की भक्ति का यह गङ्गा-जमुनी तालमेल कश्मीर की 'वैष्णो' देवी की यात्रा के समय उन्हें माता मानकर भजन गाते, नाचते, झूमते हुए जाने वाले भक्तों से लेकर महिषमर्दिनी की मूर्ति की आरती उतारते और नाचते गाते बंगाली भक्तों तक में देखा जा सकता है। भक्ति की इस धारा ने किसी भी उपासना की शाखा को तरल बनाये बिना नहीं छोड़ा। मामला यहाँ तक गया कि पुराणों में से किसी ने इस शक्ति को विष्णु की ही महामाया बना दिया (ताकि वैष्णव सम्प्रदाय से तालमेल बैठा रहे) किसी ने शिव की पत्नी पार्वती को। पार्वती को ही काली चित्रित कर महाकाली के रूप में देखा गया और गौरी के रूप में शिव की अर्धांगिनी बताया गया। (ताकि शैव सम्प्रदायों से समन्वय रह सके) समन्वय की यह भावभूमि भारत की समूची संस्कृति में बहने वाली चिरन्तन अन्त:सलिला धारा का अजस्र आधार है।

अभय की देवी

सृष्टि, स्थिति और संहार की यह देवी पुराणों में जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन त्रिदेव समष्टि के साथ जुड़ गई वहाँ साधनाभूमि में जीवन और मृत्यु की चिरन्तन रहस्यविद्या ही बनी रहती। महाकाली शव पर चिताभूमि के मध्य खड़ी है। यह शव उसकी चित्शक्ति के स्पर्शमात्र से शिव बन जाता है। नरमुण्डों की माला धारण किये हुए, जीभ लपलपाती हुई यह संहार की देवी अपनी एक मुस्कराहट से सृष्टि की चिरन्तन सृजन प्रक्रिया का प्रारम्भ कर देती है। इसकी उपासना दोनों ही क्रमों से की जाती है। सृष्टि से संहार की ओर जाने वाला क्रम और संहार से सृष्टि की ओर आने वाला क्रम। मातृकाओं में व्यञ्जन शृङ्खला का आदिम अक्षर है 'क' और अन्तिम 'ह'। आप क से शुरू करके ह तक जाएँ या ह से क तक (इन्हीं को 'कादि' और 'हादि' के रहस्यात्मक संकेतों से अभिहित किया जाता है) सृष्टि और संहार की आवर्तन की यह शृङ्खला तो यों ही बनी रहेगी। यदि सृष्टि से प्रारम्भ करेंगे तो संहार अवश्यंभावी है, परन्तु संहार से शुरू करेंगे तो वह भी अन्ततः सृष्टि तक ले ही जाएगा। आदि शक्ति की पूजा सृष्टि और संहार के इस अनादिचक्र का रहस्य समझाती है, यही सबसे बड़ा भय है जिसका वह नाश करती है। असुरों का, राक्षसों का, शत्रु का, ये सारे भय उस भय के सामने कोई चीज नहीं। यह भयंकर महाकाली उस भय पर आनन-फानन में विजय दिला देती है। यही तो है रहस्य इसके महाभीषण स्वरूप का, इसकी लपलपाती जीभ और लाल-लाल आँखों का। इसी चामुण्डा के सामने महिष की बलि देकर मैसूर नरेश नवरात्रों की सम्पन्नता के बाद विजयदशमी का महोत्सव मनाते हैं। राजस्थान में आमेर की शिलादेवी, करौली की कैलादेवी, बीकानेर की करणीमाता, सभी उसी शक्ति के रूप हैं। आश्विन शुक्ल और चैत्र शुक्ल नवरात्र इसी आद्या महाशक्ति की स्मृति का पावन पर्व हैं।

अध्यक्ष:, आधुनिक संस्कृत पीठ,
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय,
भूतपूर्व अध्यक्ष:, राजस्थान संस्कृत अकादमी,
पूर्वनिदेशक संस्कृत शिक्षा एवं भाषाविभाग, राजस्थान सरकार,
सी-8 पृथ्वीराज रोड, जयपुरम् 302001

योगसाधना द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा

डॉ. राजकुमारी त्रिखा

परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत नियम है। दिन और रात की तरह जीवन में भी कभी सुख की सुनहरी धूप खिलती है तो कभी दु:ख के काले मेघ छा जाते हैं। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है—ऐसा कौन है जिसे सदा ही सुख अथवा दु:ख मिला हो! मनुष्य का भाग्य कभी उसे ऊँचाईयों पर ले जाता है, कभी निम्न दशा में पहुँचा देता है, जैसे पहिये के अर (डंडे, हिस्से) कभी ऊपर की ओर होते हैं, तो कभी घूमता हुआ वही ऊपर वाला भाग नीचे की ओर आ जाता है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दु:खमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छति उपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।। — *उत्तरमेघदूत*, 46

जब सौभाग्यपूर्ण समय हो तो जीवन में सब ओर प्रसन्नता छा जाती है, और जब दु:ख की काली घटा घेर लेती है, व्यक्ति दु:ख से घबरा उठता है। उसे सब ओर निराशा ही निराशा दिखाई देती है। मन अवसाद से भर जाता है। कुछ व्यक्तियों की प्रतिक्रिया आक्रामक होती है। वे जिन परिस्थितियों अथवा अपने व्यक्तियों को अपने दु:ख का कारण समझते हैं, उनके प्रति आक्रोश तथा क्रोध से भर जाते हैं। दु:ख के प्रति अवसाद अथवा आक्रोश की प्रतिक्रियाएँ मन को तनावग्रस्त और दु:खी करती हैं। व्यक्ति का मन उदास तथा व्यवहार चिड़चिड़ा हो जाता है। मानसिक दशा का प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। शरीर और मन का आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है। यदि शरीर रोगी हो तो मन दु:खी हो जाता है और यदि मन दु:खी हो तो शरीर पर उसका प्रभाव अनेक रोगों की उत्पत्ति में दिखाई पड़ता है। *महाभारत* में भी कहा गया है—

द्विविधो जायते व्याधि: शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म, निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते।।
शारीराज्जायते व्याधि: मानसो नात्र संशय:।
मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चय:।। — *शान्तिपर्व*, 16.8-9

शारीरिक दोषों से मानसरोग तथा मानसरोगों से शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेदानुसार भी भावनाओं का शरीर पर अच्छा अथवा बुरा प्रभाव पड़ता है। मनोवह स्रोत पूरे शरीर में फैले हुए हैं। भावों के अनुसार ही इनमें अवरोध आ जाते हैं तथा अवरुद्ध स्थानों पर रोग पैदा हो जाते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि हमारे विचारों और भावनाओं का हमारी नलिकाविहीन-ग्रन्थिसमूह पर प्रभाव पड़ता है। काम, क्रोध आदि के आवेग का ग्रन्थि तन्त्र (Endocrine Glands) पर इतना प्रभाव पड़ता है कि इन ग्रन्थियों से निकलने वाले स्वास्थ्यवर्धक हारमोनल स्राव अपेक्षित मात्रा से कम अथवा अधिक निकलने लगते हैं। यह असन्तुलित हारमोनल स्राव अनेक रोगों को जन्म देते हैं, जैसे—मानसिक तनाव, सिरदर्द, चक्कर आना, अनिद्रा, उच्च अथवा निम्न रक्तचाप, हृदयरोग, ब्रेन हेमरेज, पेट के अनेक रोग (जैसे एसिडिटी, अल्सर, बदहजमी, दस्त, कब्ज) मधुमेह, गठिया, अस्थमा आदि। शरीर में विद्यमान ये कुछ ऐसी ग्रन्थियाँ हैं जिनका स्राव सीधा रक्त में मिलता है। यदि स्राव असन्तुलित होगा तो उस स्राव से सम्बन्धित रोग हो जाता है। पीनियल, पिच्यूटरी थाइराइड, पैनक्रियाज, एड्रिनल और गोनाड्स ऐसी ही ग्रन्थियाँ हैं। मनोविकारों की स्थिति में इनका स्राव असन्तुलित हो जाता है और शरीर पर बुरा प्रभाव डालता है। यदि पैनक्रियाज का स्राव इन्सुलिन की मात्रा कम हो तो डायबिटीज हो जाती है। पिच्यूटरी ग्रन्थि का स्राव सभी ग्रन्थियों के स्रोवों को नियन्त्रित करता है। इसका स्राव, शरीर के विकास (लम्बाई), भोजन का परिपाक, रक्त की संरचना, रक्तसंचार, नसों के सिकुड़ने और फैलने तथा हृदयरोगों पर प्रभाव डालता है। यदि मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य का अतिरेक हो, तो इन ग्रन्थियों के स्राव अनियमित होकर अनेक मनोदैहिक रोगों को उत्पन्न करते हैं। इसीलिये शास्त्रों में इन मनोभावों को आन्तरिक रिपुषड्वर्ग अर्थात् अन्दरूनी शत्रुओं का समूह कहा गया है। बाहरी शत्रु तो आमना सामना होने पर ही हानि पहुँचाते हैं, परन्तु ये काम क्रोध आदि भाव तो हमारे भीतर ही रहकर, हमारे ग्रन्थिसमूह को हानि पहुँचा कर सम्पूर्ण स्वास्थ्य ही चौपट कर डालते हैं।

काम क्रोध आदि नकारात्मक भाव मन की विकृत तथा असामान्य अवस्था है। इन भावों के अतिरेक से उत्पन्न हुए रोगों का उपचार बाहरी दवाओं द्वारा किया जाता है। वस्तुत: डॉक्टर मनोरोग के प्रकट हुए लक्षणों जैसे डायबिटीज, एसिडिटी आदि का उपचार करते हैं। इससे कुछ राहत जरूर मिलती है, परन्तु इन मनोदैहिक रोगों का मूल कारण तो मानसिक विकार, नकारात्मक विचार ही है, जिनका उपचार दवाओं द्वारा नहीं होता। फलस्वरूप रोग से मुक्ति नहीं मिलती।

आज के आपाधापी के वातावरण में, गला-काट प्रतिस्पर्धा के युग में, सर्वश्रेष्ठ पाने को लालायित प्रत्येक व्यक्ति तनावग्रस्त है। काम, क्रोधादि के प्रभाव से युवक वर्ग भी अनेक रोगों से पीड़ित है। दवाओं से रोगों का समूह नाश नहीं हो रहा। अत: आज समाज को ऐसी वैकल्पिक चिकित्सा प्रणाली की आवश्यकता है जो रोग का समूल नाश करे, मनुष्य के शरीर, मन तथा भावनाओं का सर्वाङ्गीण उपचार कर सके। मन को शान्त तथा सन्तुलित और शरीर को स्वस्थ और बलवान बनाये।

योग द्वारा शरीर तथा मन के विकार और रोग दूर होते हैं तथा व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास होता है। योगसाधना के लाभों का वर्णन करते हुए *योगचूड़ामण्युपनिषद्* (109-110) में कहा गया है—

आसनेन रुजं हन्ति, प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी, प्रत्याहारेण मुञ्चति।।
धारणाभिर्मनो धैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति, त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।।

— *योगचूडामण्युपनिषद्*, 109-110

'आसनों' द्वारा रोगों का नाश होता है, प्राणायाम द्वारा पापों का, और प्रत्यहार द्वारा मनोविकारों का नाश होता है। धारणा से मन स्थिर होता है और समाधि द्वारा योगी शुभ और अशुभ कर्मों से मुक्त हो जाता है।

श्रुति के इस कथन से एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है कि मनोविकारों को योगाभ्यास से दूर किया जा सकता है। अब प्रश्न है कि मनोविकार क्या हैं और इन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है। आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ *चरकसंहिता* के अनुसार ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, अभिमान और द्वेष आदि भाव मनोविकार हैं—

ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारस्तेप्युक्ता: सर्वे प्रज्ञापराधजा:।। — *चरकसंहिता*, सूत्रस्थान 7.5

चरक के अनुसार इन मनोविकारों की उत्पत्ति इच्छित वस्तु न मिलने पर तथा अनचाही वस्तु मिलने पर होती है—

मानस: पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते। — *चरकसंहिता*, सूत्रस्थान 11.48

अपने प्रयत्नों में असफल व्यक्ति रजोगुण अथवा तमोगुण के अतिरेक से ग्रस्त हो जाता है—

मानस: पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च। — *चरकसंहिता*, सूत्रस्थान 1.56

जब व्यक्ति में तमोगुण बढ़ता है तो वह दु:खी होता है और उसकी सारी आशाएँ मिट्टी में मिल जाती हैं। वह परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देता है।

अत: मनोविकारों से मुक्त होने के लिए मनुष्य को मानसिक शुद्धि तथा नकारात्मक विचार त्यागने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि मन शुद्ध नहीं होगा और उसमें काम, क्रोध और ईर्ष्या आदि नकारात्मक भाव रहेंगे तो व्यक्ति शीघ्र ही मनोरोगों का शिकार बन जायेगा। मनोरोगों से सरलता से अभिभूत होने वाले व्यक्तियों के लक्षण गिनाते हुए *चरकसंहिता* में कहा है—

> तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वार: पुरुषाणामेवं विधानां क्षिप्रमभिनिर्वन्ते। तद्यथा—
> भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वानामुत्पन्नदोषाणां च समलविकृतोपद्धितान्यनुचितान्याहारजातानि
> वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रयोगं वा विषममाचरतामन्यां वा चेष्टां विषमां

समुपचरतामत्युपक्षीणदेहानाञ्च व्याधिवेगसमुद्भ्रमितानामुपहतमनसां वा कामक्रोधलोभ-हर्षभयमोहायासशोकचिन्तोद्वेगादिभि: पुनरभिघाताभ्याहतानां वा मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा: दोषा: प्रकुपिता: हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांसि आवृत्य जनयत्युन्मादम्। — *चरकसंहिता, 7.3*

डरपोक, दु:खी, कफवातपित्त (त्रिदोष) के असाम्यत्व से पीड़ित, जैसा भोजन अथवा बासी भोजन सेवन करने वाले, सदाचार के नियमों का पालन न करने वाले, तान्त्रिक क्रियाओं के अनुष्ठान के नियमों का पालन न करने वाले, बहुत कमजोर, असाध्य रोगों से पीड़ित तथा दु:खी, काम, क्रोध, हर्ष, लोभ, भय, मोह, थकावट, शोक, चिन्ता, त्रिदोष के असाम्य से पीड़ित तथा भावोद्रेक वाले—ये सभी आसानी से मनोरोगग्रस्त हो सकते हैं। असन्तुलित कफ, वात तथा पित्त हृदय में पहुँच कर मनोवह नाड़ियों को अवरुद्ध कर देते हैं तथा इस प्रकार उन्माद उत्पन्न करते हैं।

अत: व्यक्ति की जीवनशैली तथा विचारधारा इस प्रकार की होनी चाहिये कि मानसिक क्षोभ उसे न सताये तथा वह परिपूर्ण रूप से स्वस्थ रहे। यदि कोई मनोविकृति आ गई हो तो उसे योगाभ्यास द्वारा दूर करे।

योगसाधना द्वारा उपचार कैसे?

अब प्रश्न है कि योगाभ्यास द्वारा किस प्रकार से मनोरोगों का उपचार किया जाये। योग का नियमित अभ्यास ही मनोरोगों का स्थायी उपचार है। योगचिकित्सा के तीन आयाम हैं—

1. कुपित त्रिदोष कफ, वात और पित्त की शान्ति व साम्यत्व
2. शरीर में संचित मल का निस्तारण
3. ध्यान तथा ॐ आदि पवित्र मन्त्रों का जप, जिससे निरन्तर संकल्प विकल्प में लगा रहने वाला मन शान्त होता जाता है।

अब क्रमश: योगचिकित्सा के इन तीन चरणों का विवेचन करेंगे।

1. त्रिदोषसाम्यत्व

जब खाया हुआ खाना नहीं पचता तब त्रिदोष कुपित होता है। कफ, वात और पित्त में सक कोई एक अथवा दो असन्तुलित होकर रोग उत्पन्न करते हैं। अत: त्रिदोष साम्य के लिए पाचन शक्ति का प्रबल होना आवश्यक है। पाचन शक्ति बढ़ाने के लिए उचित विधि से आसनों, प्राणायाम तथा षट्कर्मों का अभ्यास करना चाहिये। पश्चिमोत्तानासन के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, शरीर निरोग व पेट कृश बनता है—

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं, पवनं पश्चिमवाहनं करोति।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे, कार्श्यमरोगताञ्च पुंसाम्।। — *हठयोगप्रदीपिका*, 1.31

मत्स्येन्द्रासन भी पाचनशक्ति बढ़ाने वाला, सभी रोगों का नाश करने वाला तथा कुण्डलिनी जागरण में सहायक कहा गया है—

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं, प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम्।
अभ्यासत: कुण्डलिनीप्रबोधं, चन्द्रस्थिरत्वञ्च ददाति पुंसाम्।। — *हठयोगप्रदीपिका*, 1.29

मयूरासन अत्यन्त अद्‌भुत प्रभाव डालता है। इसके अभ्यास से पाचन शक्ति इतनी अधिक प्रबल हो जाती है कि प्रकुपित हुए कफ, वात और पित्त तथा अन्य सभी प्रकार के शरीरस्थ विष, पाचक अग्नि में जल कर भस्म हो जाते हैं। फिर अपच का तो नामोनिशान नहीं रहता। न ही अपच तथा प्रकुपित मलों से उत्पन्न होने वाले रोग घेरते हैं।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीन्,
अभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्।
बहुकदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषम्,
जनयति जठराग्निं जारयेत् कालकूटम्।। — *हठयोगप्रदीपिका*, 1.33

धनुरासन, चक्रासन, सुप्तवज्रासन तथा सर्वाङ्गासन से शरीर लचीला बनता है, नस नाड़ियाँ खुलती हैं और उनका खिंचाव समाप्त हो जाता है। धनुरासन से भी जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा स्नायुसंस्थान, विशेष रूप से रीढ़ की हड्डी पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। रीढ की हड्डी लचीली होने से ही मस्तिष्क तथा स्नायु संस्थान अधिक सक्रिय तथा शरीर के अङ्ग अधिक शक्तिवान् बनते हैं—

देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम्।
जागर्ति भुजगी देवी, भुजगासनसाधनात्।। — *घेरण्डसंहिता*, 2.37

इस प्रकार सर्वप्रथम आसनों के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त करनी चाहिए तथा साथ-ही-साथ प्रकुपित मल के निस्सारण और निष्कासन का भी प्रयत्न करना चाहिए।

सञ्चित शरीरस्थमल का निष्कासन

शरीर में जमा हुए विष तथा कुपित त्रिदोष को बाहर निकाल देने से रोग जड़ से समाप्त हो जाता है। आसनाभ्यास से प्रदीप्त हुई जठराग्नि से त्रिदोष साम्य हो जायेगा और शरीर में जमा हुए विषैले तत्त्व तथा असन्तुलित वात, कफ और पित्त को बाहर निकालने के लिए कुछ यौगिक क्रियाओं का अनुष्ठान आवश्यक है। नेति, धौति तथा कुञ्जल क्रियाएँ इस दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं। नेति क्रिया से नासिका, नासिका के आस-पास के अङ्ग तथा गले से ऊपर जमा कफ बाहर निकलता है। कुञ्जल क्रिया में गुनगुना पानी पीकर फिर वमन किया जाता है। इससे आमाशय में संचित कफ और पित्त वमन के साथ बाहर निकल जाता है। पूरे

पाचन संस्थान के अङ्गों में जमा विषैले तत्त्व बस्ति तथा शङ्खप्रक्षालन क्रिया द्वारा बाहर निकल जाते हैं। धौति क्रिया के द्वारा पेट में पड़ा हुआ कफ बाहर निकल जाता है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः।। — *हठयोगप्रदीपिका, 2.25*

इन क्रियाओं के द्वारा शरीरस्थ विषैले हानिकारक पदार्थ शरीर से निकल जाते हैं, नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार विषैले हानिकारक तत्त्वों द्वारा उत्पन्न रोग भी समाप्त हो जाते हैं।

सभी शारीरिक और मानसिक रोगों के उपचार हेतु प्राणायाम बहुत प्रभावी क्रिया है। जिस प्रकार तेज वायु पानी को सुखा देती है, उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा कफ, वात और पित्त आदि कुपित मल नष्ट हो जाते हैं और प्राण शक्ति बलवान् होती है। प्राणशक्ति बलवान् होने पर ही शरीर में विद्यमान पंचप्राण सुचारु रूप से कार्य करते हैं तथा पाचन शक्ति बढ़ती है और खाया हुआ भोजन ठीक से पचता है, उसका रस रक्त मांस मेदादि सात धातुओं में सम्यक् परिपाक होता है। प्रकुपित त्रिदोष की शान्ति तथा मानसिक सन्तुलन व स्थिरता पाने के लिए योगग्रन्थों में अनेक प्रकार के प्राणायामों का वर्णन मिलता है। *योगकुण्डल्युपनिषद्* का कथन है—"सूर्यभेदी प्राणायाम से कपाल का शोध तथा वातजन्य रोगों का नाश होता है।"

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनै,
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः।
कपालशोधने वापि रेचयेत् पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च।। — *योगकुण्डल्युपनिषद्, 1.24-25*

नाड़ीशोधन प्राणायाम से कुपित हुए कफ से उत्पन्न रोग नष्ट होते हैं—

एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत्।। — *घेरण्डसंहिता, 2.57*

घेरण्डसंहिता में नाड़ीशोधन प्राणायाम को वातक्रमकपालभाति नाम से उल्लेख करते हुए, उसका उपर्युक्त लाभ बताया है। भस्त्रिका प्राणायाम कुपित त्रिदोष को शान्त व सन्तुलित करके मन्दाग्नि दूर करता है–

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निर्विवर्धनम्।।
कुण्डलीबोधकं क्षिप्तं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाड़ीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम्।। — *हठयोगप्रदीपिका, 2.65-66*

उज्जायी प्राणायाम नाड़ी संस्थान तथा शरीर की सातों धातुओं से सम्बन्धित रोग नष्ट करता है तथा गले में स्थित कफजन्य रोग दूर करके पाचन शक्ति बढ़ाता है—

पूर्ववत्कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः।
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम्।
नाडीजालोदरधातुगतदोषविनाशनम्। — *हठयोगप्रदीपिका, 2.52-53*

शरीर में बढ़ी हुई गर्मी के कारण उत्पन्न हुए रोगों के उपचार में शीतली प्राणायाम बहुत लाभदायक है। इसके साथ ही, जिगर तिल्ली के रोग, पित्त की अधिकता से उत्पन्न रोग जैसे एसिडिटी, अल्सर इत्यादि विषाक्त भोजन खाने से उत्पन्न रोग, भूख तथा प्यास भी शान्त होते हैं—

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम, कुम्भकोऽयं निहन्ति हि।। — *हठयोगप्रदीपिका, 2.52-53*

योगग्रन्थों के वर्णनानुसार इन आसनों षट्कर्म तथा प्राणायाम की क्रियाओं से रोगनिवृत्ति तो हो जाती है, परन्तु इन क्रियाओं को करने में थोड़ी-सी भी असावधानी या गलती बहुत ही हानिकारक होती है। योगशास्त्रों में इस तथ्य का भी उल्लेख नहीं है कि किन परिस्थितियों तथा रोगों ने इन क्रियाओं को नहीं करना चाहिये। अत: अनुभवी प्रशिक्षक को अपनी सभी समस्याएँ बताकर, उसके समक्ष ही निर्दिष्ट क्रियाएँ करनी चाहिए, ताकि साधकको इच्छित लाभ मिले। अन्यथा हानि भी हो सकती है।

ध्यान तथा मन्त्रजप द्वारा मानसिक शान्ति

उपरिलिखित क्रियाओं द्वारा कुपित त्रिदोष की शान्ति तथा संचित कुपित त्रिदोष के निष्कासन से शरीर तथा मन में काफी राहत का अनुभव होता है। ध्यान साधना, मन्त्रजाप, यम, नियम,प्रत्याहार के अभ्यास से साधक का मन शान्त होने लगता है। परन्तु इन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की साधना निरन्तर चलनी चाहिए, अन्यथा मन अपने पूर्वकाल में किये गये कार्यों के संस्कारों के प्रभाव में आकर, फिर से पुरानी गलतियाँ दोहराने लगेगा। इन साधनाओं से अनेक लाभ होते हैं। जैसे अहिंसा का साधक, कभी भी किसी को शारीरिक अथवा मानसिक हानि नहीं पहुँचाता। परिणामस्वरूप कोई दूसरा व्यक्ति भी उसे हानि नहीं पहुँचायेगा।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। — *पातञ्जल योगसूत्र, 2.35*

इस साधना के प्रभाव से साधक के मन से भय निकल जायेगा। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी उससे डरेंगे नहीं। वह तनावमुक्त रहेगा। यह मन की सकारात्मक अवस्था है, जो मानसिक स्वास्थ्य की आधारभूमि है। इसी प्रकार मन, वाणी और कर्म से सत्य का पालन करने वाला व्यक्ति अपेक्षाकृत ज्यादा शान्त और तनावमुक्त रहता है क्योंकि वह किसी एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलने की जरूरत तथा सच्चाई प्रकट होने के भय से मुक्त होता है। यम, नियम तथा प्रत्याहार के अभ्यास से मन में धैर्य तथा दृढ़ता आती है, जो मानसिक रोगों की शत्रु हैं। मन्त्रजप, मन की एकाग्रता को बढ़ाता है। चरक भी (मानसिक रोग) उन्माद का उपचार बताते हुए कहता है—

तयो: साधनानि मन्त्रौषधिमणिमङ्गलवल्युपहारहोमनियमव्रतप्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादीनि इति। —*चरकसंहिता, निदानस्थान 7.18*

मन्त्रजप, औषधि, रत्नचिकित्सा, दान देना, होम, नियम, प्रायश्चित्त, व्रत उपवास करना इत्यादि उन्माद निवारण के साधन हैं।

मन्त्रजप तथा ध्यानाभ्यास से चित्त की चञ्चलता दूर होती है। मन का स्वभाव है कि वह किसी भी क्षण किसी एक बिन्दु पर नहीं टिकता। मन्त्रजप तथा ध्यान से मन धीरे-धीरे शान्त होता जाता है तथा एक लक्ष्य पर देर तक टिकने लगता है। जैसे-जैसे मन ध्यान की गहराईयों में उतरता जाता है, मन से राग, द्वेष, अहङ्कार, भय, क्रोध, अज्ञान आदि दूर होते जाते हैं। मन शुद्ध हो जाता है। तब वह न किसी से राग रखता है और न ही द्वेष। ज्यों-ज्यों मन शुद्ध तथा शान्त होता जाता है, साधक का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। तब वह सुखी तथा सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति मित्रता का भाव रखने लगता है। दु:खी व्यक्तियों के प्रति उसका मन दया से भर जाता है। पवित्र आचरण करने वाले व्यक्ति को देखकर वह प्रसन्न होता है तथा पापी व्यक्तियों की उपेक्षा करता है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

— *पातञ्जलयोगसूत्र, 2.33*

इस प्रकार के विचार रखने से वह दूसरों से ईर्ष्या करना, किसी को हानि पहुँचाना, क्रोध करना, उपहास करना आदि नकारात्मक प्रवृत्तियों से बच जाता है।

इस स्थिति में पहुँच कर व्यक्ति अपने साथियों, मित्रों, सम्बन्धियों को ओर अपने आस-पास के वातावरण को, उनकी अच्छाईयों और बुराईयों सहित स्वीकार कर लेता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह क्रोध से अभिभूत नहीं होता। दैनिक जीवन की समस्याओं को वह गहन विचारात्मक, उचित तथा योजनाबद्ध तरीके से देखता है और उनका सटीक, व्यावहारिक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण समाधान निकाल लेता है। ऐसा व्यक्ति तटस्थभाव से आत्म निरीक्षण करके अपने गुण तथा दोषों को पहचानने में समर्थ होता है। उसे अपनी योग्यता तथा कार्यशक्ति का भी ज्ञान होता है, अत: वह निराशा, चिन्ता तथा तनाव से बच जाता है। उसके मन में शान्ति बनी रहती है। चरक महर्षि भी इस प्रकार की मन:स्थिति को मानसिक विकारों की चिकित्सा में सहायक मानते हैं। वे कहते हैं—समस्याओं को सही रूप में समझना, उनके समाधान की दिशा में वैज्ञानिक दृष्टि, धैर्य, स्मृति तथा समाधि का अभ्यास, ये सब मानस रोगों के उपचार के साधन हैं।

मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि:। — *चरकसंहिता, सूत्रस्थान 1.57*

कभी-कभी गहरे ध्यान की अवस्था में मन तथा प्राण रोगी अङ्ग में पहुँच जाते हैं। वहाँ प्राण के साथ-साथ रक्त का संचार भी होता है। रक्त की आपूर्ति होने के कारण अङ्ग को नई जीवनी शक्ति मिलती है, और रोग दूर हो जाता है।

कभी-कभी ध्यान की गहरी स्थिति में साधक को अपने बाल्यकाल अथवा पूर्वजन्म की किसी ऐसी घटना का साक्षात्कार हो जाता है जो उसके मानसिक विकार का मूल कारण होता है। तब वह अपनी मानसिक समस्या का वास्तविक कारण जानकर अपने रोग से छुटकारा पा जाता है।

आधुनिक विज्ञान भी मनोविश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा, मानस रोगों के उन मूल कारणों को खोजने का प्रयास करता है, जो रोगी के अचेतन अथवा अवचेतनमन में छिपे हैं। कारण पता चलने पर मनोविश्लेषक रोगी से पूछता है कि उस वक्त उसे कैसा लगा था। तब रोगी अपनी मनोव्यथा को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करता है। मनोव्यथा की इस बाहरी अभिव्यक्ति से रोगी की मानसिक उलझन और उससे उत्पन्न हुआ रोग ठीक हो जाता है। इस चिकित्सा पद्धति को PLT अर्थात् Past Life Treatment कहते हैं। पिछले दिनों टेलीविजन के NDTV Imagine Channel पर एक ऐसा ही कार्यक्रम प्रसारित हुआ जिसका नाम था 'राज पिछले जनम का।' इसमें डॉ. रोगी को पिछले जन्म की कुछ घटनाओं की स्मृति व दर्शन कराती थीं, जो रोगी के शरीर अथवा मन की समस्या का कारण थीं। अनेक रोगियों ने इस प्रकार के पूर्वजन्म दर्शन से अपनी शरीर तथा मन की समस्याओं के समाधान होने के कारण इसे सराहा भी था।

मानसिक रोगों के उपचार की एक और चिकित्सा पद्धति है—सम्मोहन। इसमें मनोविश्लेषक रोगी के मन को अपने वश में करके उसके मन की गहराईयों में छिपे (रोग के) कारण को ढूँढने तथा उसका सुझावों (Suggestion) द्वारा उपचार करने का प्रयास करता है।

योग द्वारा मानसरोगचिकित्सा की श्रेष्ठता

यद्यपि मानसिक रोगों के उपचार में PLT तथा सम्मोहन जैसी पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं, परन्तु वे सभी योग द्वारा मनोविश्लेषण तथा मनोरोगचिकित्सा की पद्धति के समान उत्कृष्ट नहीं है। ध्यान द्वारा मानसविश्लेषण के समय में मनोरोगी पूरी तरह सजग रहते हुए पूर्वजन्म की घटनाएँ देखता है। ध्यान से उठने के पश्चात् भी उसे ध्यान में देखी घटनाएँ याद रहती हैं।

परन्तु सम्मोहन तथा पास्ट लाइफ ट्रीटमेन्ट (Past Life Treatment) में रोगी का मन अपने परामर्शदाता डॉक्टर में रोगी का मन अपने परामर्शदाता डॉक्टर के नियन्त्रण में होता है। चिकित्सा के दौरान उसने क्या देखा, क्या कहा, इस विषय में उसे कुछ भी याद नहीं रहता। अनेक धूर्त लोग इस स्थिति का अनुचित लाभ उठा कर सम्मोहित व्यक्ति को ठगते और धोखा देते हैं। इस दृष्टि से योगसाधना पद्धति अन्य चिकित्सापद्धतियों से उत्कृष्ट है।

निष्कर्ष

अन्त में हम संक्षेप में कह सकते हैं कि योगध्यानसाधना द्वारा मनोरोगों की चिकित्सा की विधि अनुपम, अत्यन्तप्रभावकारी तथा वैज्ञानिक चिकित्साविधि है। इसमें कामक्रोधादि मनोविकारों को मन पर हावी होने से रोका जाता है। इसके लिए मन की शुद्धि आवश्यक है। मन की शुद्धि के लिए भोजन की शुद्धि, हितभुक्, मितभुक् तथा ऋतुभुक् सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक है। शास्त्रों में निर्दिष्ट सात्त्विक आहार का सेवन करने से मन के विकार दूर होते हैं, विचार शुद्ध होते हैं। मन के स्वस्थ होने पर 80 प्रतिशत रोग ठीक हो जाते हैं। यौगिक आसन, प्राणायाम, षट्कर्म तथा ध्यान के लाभ अब वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं। डॉ. के. एन. उदुपा ने अनेक रोगियों पर परीक्षण किये और उन्हें योग द्वारा नीरोग किया है। पेशे से वह यद्यपि एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के डॉक्टर थे फिर भी उन्होंने अनेक रोगियों की योग द्वारा चिकित्सा की तथा इलाज करने के पहले तथा इलाज के बाद दोनों स्थितियों में ब्लड प्रेशर, रक्त संरचना, मूत्र परीक्षण, EMG, ECG, EEG जैसे टैस्टों के परिणाम बेहतर आये। स्वामी राम के शिष्य जेम्स फण्डरवर्क ने भी अपनी पुस्तक Science Studies Yoga में इसी निष्कर्ष को दोहराते हैं। वे योग की सच्चे हृदय से प्रशंसा करते हैं।

हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों की मानवता को दी गई अनुपम भेंट है। यह ऐसा कल्पवृक्ष है, जो अपनी शरण में आने वाले को इच्छित वरदान देकर कृतकृत्य कर देता है।

पूर्व एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
मैत्रेयी कालेज,
निवास – BF-95, जनकपुरी, नई दिल्ली–110058
दूरभाष – 09899101944

ग्रहाणां निगमागमपरम्परानुशीलनम्

मधुसूदनमिश्रः

इह जगति सर्वत्र कश्चन सम्बन्धविशेषो भवति, स च सम्बन्धो जैविको भौतिको वैषयिको वा भवति। ग्रहनक्षत्राणां गतिमधिकृत्य प्रवर्तितस्य भगवतो वेदस्य नेत्ररूपेण प्रतिष्ठितस्य ज्योतिषशास्त्रस्य विविधाः पक्षा आगममूलकाः। अतश्शोधपत्रेऽस्मिन् समासेन ग्रहाणामागमत्वं कथं विद्यते, कश्चानयोस्सम्बन्ध इति विमृश्यते।

ग्रहाणां निगमागममूलकत्वम्

को नाम ग्रह इति प्रश्ने **गृह्णाति गतिविशेषानिति ग्रहः।**[1] सामान्यतया ग्रहो ग्रहणार्थे प्रयुज्यते। अत एव गृह्णाति सर्वान्। जागतिकपदार्थानेकत्र पुञ्जीकृत्य स्वस्मिन्निवेशयतीत्यसौ ग्रहः। अतः कल्पद्रुमे **गृह्णाति फलदातृत्वेन जीवानिति ग्रहः।**[2] क्वचिद्रूढितो गच्छतीति 'ग्रहः' इत्यपि गतिग्रहणसामर्थ्यादुच्यते। वस्तुत इह जगति सर्वाणि वस्तूनि सततं गतिशीलानि स्वमाण्डलिकभूमौ प्रचलन्ति संसारेऽस्मिन्। विचित्रा विभिन्नाश्च घटनास्समुत्पादयन्ति। तेषां सर्वेषां माण्डलिकानां ग्रहाणां केन्द्रबिन्दवो यद्यपि भिन्ना भिन्नास्सन्ति तथापि तेषां सर्वेषां बिन्दूनां केनाप्येकेन बिन्दुना सह सततं सम्बन्धो विद्यत इति वैज्ञानिकपक्षः। आगमशास्त्रेऽपि तथैव केन्द्रभूता विशिष्टाशक्तिः समाधिग्राहकत्वेन वरीवर्ति। तदवदेव विचित्रघटनोत्पादिका शक्तिरेव भिन्नेषु भिन्नेषु भूमिषु ग्रह इति निगद्यते। अत एव आचार्यभट्टकमलाकरेण स्वकृतौ निरूपितं यत् ये बिम्बरूपाः दिवि दृश्यन्ते तद्भिन्नाः वास्तविकाः ग्रहाः अव्ययाः अविनाशिनस्सन्ति। तच्चोक्तमाचार्येण—

जपपूजनहेतोस्ते निर्मिताः देवतांशकाः।
विधिना बिम्बरूपा ये तद्भिन्नास्त्वव्ययास्सदा। — *सिद्धान्ततत्त्वविवेके, म. अ. 51*

वस्तुतस्तु स्फुटग्रहसम्बन्धे पूर्वाचार्यैः गगनस्थपिण्डानां ग्रहत्वोपाधिर्न प्रदत्ता। आदौ गगने पिण्डस्वरूपाणां ग्रहाणां समवलोकनादयं सूर्यः, अयं चन्द्रः असौ बुध इत्यादिको बोधो बोधो भवति परं तात्त्विकदृशा बिम्बात्मक-मण्डलानि ग्रहाणां भौतिकस्वरूपाणि देहगोलरूपाणि न तु ग्रहरूपाणि, तद्भिन्ना एव आत्मरूपाः ग्रहाः। तद्भि—

ग्रहर्क्षदेहगोला ये ते तु तद्बिम्बगोलकाः। — *सिद्धान्ततत्त्वविवेके, वि.अ. 51*

अथ च सुविदितमेव समेषां यत् भारतीयज्योतिशास्त्रे प्रभावदृशा सूर्यचन्द्रौ द्वौ प्रधानग्रहौ भौमादितो शनिपर्यन्ताः पञ्चताराग्रहाः राहुकेतु च द्वौ छायाग्रहौ आहत्य नवग्रहास्सवीकृतास्सन्ति। निगमागमस्यानुस्यूत-

परम्परायां आदित एव सूर्यचन्द्रमसोर्वर्णनं बहुत्र दरीदृश्यते राहेतुकेत्वोश्च वर्णनं ग्रहणप्रसङ्गे **स्वार्भानुः** इति पदेन प्राप्यते परन्तु भौमादिपञ्चताराग्रहाणामुल्लेखः प्रत्यक्षतया विस्तृततया च कालान्तरे एव प्राप्यते। *ऋक्संहितायां* पञ्चदेव इति प्रयोगः पञ्चग्रहवाचकत्वेनैवागत इति प्रतीयते। अतो देवस्तुतिपरकमन्त्रेषु ग्रहाणां चर्चा विकीर्णतया निगमागमप्रकल्पेषु प्रस्फुटितास्ति। *महाभारते* सभा-वन-द्रोणपर्वसु ग्रहचर्चा, आदिकाव्ये *रामायणे* च विविधघटनानामुपक्रमे ग्रहोल्लेखो विद्यते। द्रोणपर्वणि ग्रहाणां सप्तत्वं प्रतिपाद्य निगदितं विद्यते यत्—

प्रजा संहरणे राजन् सोमं सप्तग्रहा इव। — *महाभारते द्रोणपर्वणि, 37.22*

नवग्रहेषु सूर्यचन्द्रौ द्वावेव प्रधानग्रहौ यतो हि विश्वसृजा ब्रह्मणा विश्वनिर्माणार्थमादावृत्तस्वरूपस्य सोमस्य अग्निस्वरूपस्य सत्यस्य च प्रादुर्भावः कृतः। ततः **अग्निषोमात्मकं जगदिति** श्रुत्या ताभ्यां सूर्यचन्द्रमसाभ्यां जागतिकपदार्थानां सृष्टिर्कृता। *सूर्यसिद्धान्तेऽपीयमेव* प्रक्रिया ग्रहोत्पत्तेर्निदिष्टमित्थम्—

अग्निषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः।
तेजो भूखाम्बुवातेभ्यो क्रमशः पञ्च जज्ञिरे।। 12.24

अत्रेदमप्यवधेयं यत् यथा आगमनिगमप्रकल्पेषु संवित्साधनोपक्रमे साधनाध्यानमुद्रादीनां निष्पादने सर्वत्र पञ्चतत्त्वात्मकं सकलं जगत्परिकल्प्य व्यवहारो विधीयते तथैव खगोलशास्त्रेऽपि प्रत्येकस्य ग्रहपिण्डस्य तत्त्वात्मकगुणानुरोधेनैव गतिस्थितिप्रभावादीनां विश्लेषणं क्रियते। अत एवार्वाचीनानां नवेतराणां वरूणारूण-नेप्च्यूनयमादीनां प्राचीनैर्ग्रहत्त्वसत्तासार्थक्यं निगमागमामूलकत्वादेव न स्वीकृतम्। अथ च भारतीयसनातन-परम्परायां यथा आत्ममूलकानि सर्वाणि कृत्यानि **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इति श्रुत्या भवन्ति तथैव ब्रह्माण्डे पृथिवी केन्द्रभूता इति ज्ञात्वापि सकलचराचरब्रह्माण्डस्य नाभिकेन्द्रे सूर्य एवाधिष्ठित इत्यागममूलकसिद्धान्तः स्वीकृतः प्राचीनखगोलमहर्षिभिः।

नवग्रहाणामागमपरम्परानुशीलनम्

सूर्यः—सौरमण्डले प्रकाशपुञ्जः ज्योतिष्मतः तेजोगोलः सूर्यः ज्योतिषे ग्रहपतिः लोके च जीवनसंवाहकः। वैदिकपरम्परायां *ऋग्वेदे* सूर्यस्त सप्तरश्मीनां सहस्रश्मीनाञ्च वर्णनप्रसङ्गे प्रोक्तमस्ति यत्—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रो अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः।। 1.164.02

कूर्मपुराणे (1/14/3-4) सूर्यकिरणानां वैज्ञानिकं वर्णनं समुपलभ्यते। *सूर्यसिद्धान्ते* (12.15) तु **आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते** इत्यादिना सूर्य एव खस्थानां समेषां ग्रहर्क्षादीनां भूस्थसकल-चराचराणोत्पत्तिमूलकस्सूचितः। *ब्रह्माण्डपुराणेऽपि* (2.24.46) **चन्द्रऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेय सूर्यसम्भवाः** इति वचनं परिलक्षते। आदिभूतत्वादेवास्य कृते **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदिति** इति श्रुतिप्रमाणं प्राप्यते। सूर्यकलङ्कविषयेऽपि भौतिकवैज्ञानिकैयर्दीक्षिप्यते यत् **हीलियमनाइट्रोजन** इत्यनयोर्द्वयोस्संकर्षणात्

उत् वा धूमकेतुरूल्काया: वा सूर्यपरिपथ्यागमनात् कलङ्कं जायते तस्य कलङ्कस्य वर्णनं सहस्रेभ्य: वर्षेभ्य: प्राक् *रामायणस्य* युद्धसर्गे प्राप्यते। तत्र भगवन्तो श्रीरामा अनुजं भ्रातरं प्रत्यूचु:—हे लक्ष्मण! सायङ्काले सूर्यमण्डलं रक्तवर्णीयम् अङ्गं च कृशं तथा च नीलं कृष्णवर्णीयं चिह्नं सूर्यमण्डलेऽवलोक्यते। अशुभसूचकोऽयमिति मुहूर्तव्याजेन सूर्यकलङ्कं द्योतितं विद्यते यथा हि—

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषस्तु लोहित:।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते। — *रामायणे युद्धसर्गे-24*

चन्द्र:—चन्द्रमा मनसो जायत इति श्रुत्या चित्तकारको चन्द्र:। *शतपथब्राह्मणे* प्राप्यते यत् आदित्यादेव-चन्द्रोत्पत्तिरिति। **चन्द्रमा सौम्य:**[3] इत्यनेन सोमतत्त्वप्रधानत्वमस्याङ्गीकृतम्। *सिद्धान्तशिरोमणौ* भास्कराचार्येण चन्द्रशृङ्गोन्नत्यधिकारे अष्टमनवमश्लोकयोर्वासनावार्तिके प्रोक्तं यत्—**हरिहरविरञ्चिवरलाभश्रवणसहर्षपुत्रकामा-त्रिनेत्रविगलितजलबिन्दुरयमिन्दु: पितामहेन ग्रहत्वाकाशे निवेशित इति श्रूयते स्मृतिषु पुराणेषु। अत: आगमप्रमाणेणास्य जलमयत्वम्।** अद्यापि चन्द्रपृष्ठे जलसत्तासम्बन्धिनमन्वेषणं वैज्ञानिकैर्विधीयते। चन्द्रोर्ध्वभागे यथा पितृणां व्यवस्था कालशास्त्रे विहिता तथैव श्रुत्यागमप्रमाणनि च लभ्यन्ते यथा—**यथा हिमवत: पार्श्वपृष्ठं चन्द्रमसो यथा। न दृष्टपूर्वं मनुजै:।**[4]

भौम:—नवग्रहेषु विशिष्टतमो भूमिगुणोपेत: रक्तवर्णीय: क्षितिज:, महीज: इत्यादिनामपर्याय: भौम: प्राचीनार्वाचीनानां कौतूहलविषय:। *यजुर्वेदेऽप्यस्य* (10.6) निरूपणोक्रमे नामोल्लेख: वर्णोल्लेखश्च स्पष्टतया प्राप्यते इत्थम्—

असौ यस्ताम्रो वरूण उत बभ्रु: सुमङ्गल:।
ये चैनK रूद्राऽभितो दिक्षुश्रिता: सहस्रशो वैषाK हेडईमहे।।

पुराणागमेषु वसुन्धरोपेन्द्रयोस्संयोगेन भौमोत्पत्तिरिति कथानकं प्राप्यते। अथ भगवान् जगदादिसर्ग एव प्राक् प्रजापति: सिसृक्षयेश्वर: करेण क्रोधात् स्वतेजसोऽभिनिष्यन्दमग्निं तेजस एव जुहाव। अथ तदग्नितोऽवनिमुपसृतमुर्व्यग्निसर्वतेजोभि: सम्भृतमुदतिष्ठद्यं प्रजापतिं प्राजापत्यं भौममिति मन्यते। अत एवायं भौमो लोहिताङ्ग: अङ्गारको रक्तवर्णत्वाच्च युद्धदेवो इत्यनेनापि निगद्यते। तच्चेत्थम्—

उपेन्द्रबीजात् पृथिव्यान्तु मङ्गल: समजायत।
वसुन्धरायां बलवान् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।।[5]

विविधनिगमागमप्रमाणैरनुमोदितत्वात् भूमिगुणोपेतत्वाच्च साम्प्रतिकै: खगोलभूगोलविद्भिर्वातावरणसत्ता-मन्विष्य जीवनसत्तानुमीयते।

बुधः—वैदिक परम्परायां बुधशशिजः सोमपुत्रः वेदादिशास्त्राणां विज्ञः ज्ञनाम्नापि संकेतितोऽस्ति। सर्वशास्त्रविशारदत्वादेवायं निगमागमपरम्परायां नारायणस्वरूपः **नारायणं बुधं प्राहुर्वेदज्ञानविदो बुधः**। अत एव प्रभावशास्त्रेऽपि बुधवशात् जातकस्य वाग्मिता विचार्यते। श्रुतिपरम्परायां बुधो मतिसंज्ञकः सूर्यसमीपे प्रतिदिनं शिशु इव वर्द्धतः चन्द्रवशादेव क्षयवृद्धितामुपैत्यतस्सूर्यासन्नविद्यमानत्वात् सूर्यस्य नेत्ररूपो विद्यते। यथा ऋक् संहितायाम्—

इममपा४ सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति।। — 10.123

अत्रैका कथा आगमपरम्परायां विद्यते तत्र एकदा पुराकाले रोहिणीचन्द्रयोर्मध्ये बुधः समागतः, नैकेभ्यः दिवसेभ्यः यावच्चन्द्रो रोहिणीचन्द्रयोर्मध्ये एवाधिष्ठत्, तथा च बाहुकालानन्तरं बुधः रोहिणीचन्द्रबिन्दुतः बहिस्समागतः, अतश्चन्द्रमा पुरूषं प्रकल्प्य रोहिणीनक्षत्रञ्च स्त्रीरूपं मत्वा चन्द्रसंसर्गेन रोहिणीगर्भाद् बुधोत्पत्तिरिति पारम्परिकपौराणिकमतम्। अत आगमपरम्परायामयं चन्द्रः रोहिणेय इति नामधेयः।

बृहस्पतिः—ग्रहेषु बृहत्तमः संवत्सरंवाहकः वेदेषु **अङ्गिरस** इति नामधेयः लोके च गुरुवाचको वैदिककाले महर्षिभिः पुष्यनक्षत्रे प्रेक्षितः **बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव**[6] इति श्रुतेः। **आ वेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वमित्यादि**नास्य।[7] क्वचिन्नीलवर्णत्वमपि द्योतितमस्ति। *ऋग्वेदस्य (5/43/15)* मन्त्रभाष्ये आचार्यसायणेन प्रोक्तं यत् **अङ्गाराणां मध्ये ज्येष्ठं ज्वालायुक्तत्वात्।** *ऋग्वेदस्यानेक*–प्रसङ्गैरिदं प्रतीयते यदयं बृहस्पतिः गौतमपुत्रेण वामदेवेनान्वेषितः पुराणे मृत्वत्सायाः कथाप्रसङ्गे कृष्णवरेण बृहस्पतिरुत्पन्नो इति कथा वरीवर्ति।[8]

शुक्रः—आगमपरपरमपरायाः गहनावलोकनेन ज्ञायते यत् शुक्रस्यान्वेषणं भृगुपुत्रेण वेनभार्गवेन कृतमिति कृत्वा ग्रहस्य नाम तस्यान्वेष्टूपरि जायतेऽतः श्रुतिपरम्परायां शुक्रः वेनपर्यायः। *ऋग्वेदे* विंशतिमन्त्राणां सूक्तद्वयस्य ऋषिः वेनोऽस्ति। अतो वेनशब्दः वेदे लोके च शुक्रग्रहपर्यायः। प्रकाशपुञ्जत्वादयं वेदेषु ज्योतिर्जरायुनाम्नापि संकेतितः। *ऋग्वेदे* शुक्रविषये निगदितमस्ति यदयं शुक्रः वेनसनामपर्यायः सूर्यसमीपे शिशुः इव प्रतिदिनं वर्द्धते तद्धि—**अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।**[9] *शतपथब्राह्मणे* शुक्रस्य व्याख्याने लिखितमस्ति यत् यो हि चमत्कृतौ सर्वाधिकः स एव शुक्रः। तच्चोक्तं विद्यते—

अयं वेनः। चित्रं देवानाम्। — *यजुर्वेदे 33.33*

शुक्रस्यातिचमत्कृतित्त्वादेवास्य ज्योतिषजातकसकन्धे सौन्दर्यदेवतायाः संज्ञा विधीयते। वामनपुराणानुसारेण शिवस्य निकुम्भादिदैत्यैः सह युद्धसमये मृताः देवताः भूयो भार्गवेण विद्यया जीवितास्तदा शङ्करेण गणपतिमादिश्य भार्गवबद्ध्वानीय मुखमाध्यमेनोदरे स्थापितः, किञ्च भार्गवस्य स्तुत्या शिश्नेन बहिर्निस्सारितः येनास्य नाम शुक्रः सञ्जातः।

शनिः—निगमागमपरम्परायां लौकिकपरम्परायाञ्च शनैश्चरः **सूर्यपुत्र** इति नाम्ना ख्यातो अशुभ्रवर्णत्वात् असितोऽप्युच्यते। हलायुधेनापि स्वीये भाष्ये असितः शनिग्रहः इति प्रोक्तम्। *ऋग्वेदे* सूर्यांशुभ्यो एवास्योत्पत्तिं

वर्णयन् प्रोक्तं यत् यदा सूर्यः स्वकिरणविस्तारयितुं समुत्पन्नकाले हिरण्यवर्णो दैदीप्यमानोऽभूत्तदा शनिग्रहः जिह्वया सह समुत्पन्नोऽभूत्। अतः सूर्यांशेभ्यो शनेरुत्पत्तित्वादेवास्य ज्योतिषशास्त्रेऽपि सौरिः, आर्किः, रविजश्चेति पर्यायभूतास्सन्ति। *पद्मपुराणे* सूर्यपत्न्याः सवर्णायाश्छायायाश्शनेरुत्पत्तिरिति प्रतीकात्मकतया वर्णितास्ति।[10]

राहूकेतू—भारतीयज्योतिषशास्त्रपरम्परायां गगनस्थपिण्डानां न ग्रहत्वमपि तु प्रभावोत्पादिकायाः सुखदुःखोत्पादिकाया देवतात्मिकायाः नाम ग्रहः। अत एव पिण्डविहीनयोर्राहुकेत्वोर्छायाग्रहयोरपि ग्रहत्वमङ्गीकृतमाचार्यैः। पुराणे राहुकेतोरुत्पत्तिविषये विस्तृता कथा प्राप्यते। समुद्रमन्थनकाले अमृतरत्नं समुद्रान्निस्यूतं तदा तत्प्राप्त्यर्थं स्वर्भानुना देवरूपं निधाय देवसंसदि प्रविश्यामृतं पीतं परन्तु तदैव स चन्द्रार्काभ्यां दृष्टः विष्णुं प्रति च संसूचितः येन विष्णुना स्वचक्रेण पिबन्तं शिरः जहार, तथाप्यमृतपानप्रभावात् सोऽमरत्वं प्राप्तवान् अतः खण्डितोऽपि सन् न मृतः अपि तु तच्छिरोभागः केतुरूपेण शेषशरीरः राहुरूपेण प्रसिद्धोऽभवत्। अर्कचन्द्राभ्यां तद्भग्ने हेतुत्वात् यथाकाले इमौ राहुकेतू चन्द्रपातरूपेणख्यातौ सूर्यचन्द्रयोर्ग्राहकौ च भवतः इत्यागमानुरोधेनैव ज्योतिषशास्त्रेऽपि स्वीकृतोऽस्ति। तद्धि सिद्धान्तशिरौमणावाचार्यभास्करेणागमाश्रयत्वमित्थं प्रपादितमुभयोः —

राहुः कुभा मण्डलगश्शशाङ्कः, शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम्।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात् सर्वागमानामविरूद्धमेतत्।। *सिद्धान्तशिरोमणौ, ग्र.अ. 10*

ग्रहणनिरूपणोपक्रमे *ऋग्वेदे* स्वर्भानुरूपेण राहुस्वरूपं विविक्तमस्ति। तत्र ज्ञायते यदत्रिऋषिणायं ज्ञातः न केनचिदन्येनेति **'अत्रयः तमन्विन्दन्नह्यन्ये अशकूनुवन्'** इत्यादिनोल्लेखो प्राप्यते। *ऋग्वेदे* हि—

स्वर्भानोरधयीनन्द्र मायाऽऽअवो दिवा वर्तमाना अवाहन्।
सूर्यं तमसाव्रतेन तुरीयेन ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः।

अथर्ववेदे (15.5.10) तु **शं नो ग्रहाः चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणेति** वर्णनं प्राप्यते। *ताण्ड्यब्राह्मणे* तु पञ्चधा (4/5/2, 4/6/13, 6/6/8, 14/11/14-15, 23/16/12) *शतपथब्राह्मणे* 5/3/12, *गोपथे* च 8/19 इत्यादिस्थलेषु **स्वर्भानुपदेन** ग्रहणप्रसङ्गे राहोवर्णनं प्राप्यते। *वह्निपुराणे* प्रजापतिसर्गे सिंहिकायाश्चतुर्दशपुत्रेषु ज्येष्ठतमो राहुरिति कथानकं प्राप्यते। वस्तुतस्तु निगमागमप्रतिपादित-ग्रहणजन्यसिद्धिसाधनोपासनादीनामवलोकनादेव ग्रहणस्यायमेव वैदिकसिद्धान्तः ज्योतिषशास्त्रेऽपि स्वीकृतः।

निष्कर्षः

इह जगति निःशेषज्ञानमूल्यस्य भगवतो वेदस्य ज्ञानराशेः निगमत्वं सर्वत्र निश्चयप्रचम्। अथ च कालविधायकस्य नेत्ररूपवेदाङ्गस्य ज्यौतिषस्य सर्वेऽपि सिद्धान्ताः प्रत्यक्षापरोक्षरूपेण तस्या एव वैदिक्याः

निगमागमपरम्पराया: संवाहका:। अत: निर्बाधतया प्रत्यक्षत्वस्वीकारेऽपि बहुत्र आगमप्रमाणैरेव सिद्धान्ता: परिपोषिता: खगोलशास्त्रे इत्यत्र न हि कश्चन संदेहावसर इति समासेन विविच्य विरम्यते।

सन्दर्भा:

1. *शब्दकल्पद्रुमे*, 2/374 (रा. सं. सं. नवदेहलीत: प्राशित:)
2. तत्रैव।
3. *शतपथब्राह्मणे*, 6/1/24
4. *तैत्तिरीयसंहितायाम्* 3/4/7/1
5. *ब्रह्मवैवर्तपुराणे*, 3/4/42; *ब्रह्माण्डपुराणे*, 24/48
6. *तैत्तिरीयब्राह्मणे*, 3/1/1
7. *तैत्तिरीयब्राह्मणे*, 5/43/12
8. *ब्रह्मवैवर्तपुराणे*, प्र.ख.अ. 16
9. *ऋ. सं.* 10/123/1
10. *पद्मपुराणे*, 11/27

शोधच्छात्र: (ज्योतिषविभाग:)
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय:, काशीहिन्दूविश्वद्यालय:
वाराणसी-221005
दूरभाषसंकेत: 9005484655

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी का परिचय

श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई. में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रसार के लिए श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामीकरपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरुज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गङ्गाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठित है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसन्धान प्रकाशन विभाग एवं अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवं गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय, साधक प्रशिक्षण/साधकावास एवं अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परिक आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेदशास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ के द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन क्रम में *श्रीविद्यारत्नाकर*, *श्रीविद्यावारिवस्या* (पूजापद्धति), *भक्तिसुधा*, *भुवनेश्वरीवारिवस्या*, *साम्बपञ्चाशिका* (हिन्दी व्याख्या) *विरूपाक्षपञ्चशिका* (हिन्दी व्याख्या), *श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र*, *श्रीमहागणपतिवारिवस्या*, *उपचारमीमांसा* आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर ***श्रीविद्यार्णवतन्त्र*** (भाग १-२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति संग्रहालय है, जिसमें आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश और विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थों, आगम-तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्यासाधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री शाङ्करी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयन्त्र की स्थापना भी की गयी है, जहाँ प्रतिदिन श्रीयन्त्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय १० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ नि:शुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामान्यत: आगमतन्त्र के रहस्यों को साधकों तक उपलब्ध कराने हेतु षणमासिकी पत्रिका *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

लेखकों से निवेदन

१. संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी भाषाओं में ही लेख पत्रिका में स्वीकृत किए जाएँगे।

२. उपर्युक्त भाषाओं में लिखे गये लेख शुद्ध, स्पष्ट एवं टंकित अथवा सुवाच्य हस्तलिखित होना चाहिए।

३. तन्त्र, आगम, मन्त्र, साधना, उपासना विधि आदि आनुषंगिक विषयों के लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार किये जायेंगे।

४. शोधस्तरीय, मौलिक तथा नवीन विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक उच्च स्तरीय लेख ही प्रकाशनार्थ स्वीकार्य होंगे।

५. सभी लेख १० फुलस्केप अथवा ए-४ साइज कागज पर एक तरफ टंकित अथवा स्पष्ट हस्तलिखित होना चाहिए।

६. सम्पादकीय मण्डल एवं विषय विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकित एवं संस्तुत मौलिक लेखों को ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया जाएगा।

७. लेखों के साथ अपेक्षित चित्र, चार्ट अथवा डायग्राम आदि भी प्रतिपादित विषय की स्पष्टता के लिए संलग्न किये जाने चाहिए।

८. लेखकों द्वारा प्रेषित लेख पंजीकृत डाक द्वारा अपने व्यय पर सुरक्षित प्रेषित किया जाना चाहिए। प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें, ताकि लेख अस्वीकार्य्य होने की दशा में आपकी रचना आपके पास संरक्षित रह सके।

९. जो लेख प्रेषित किया जाय वह प्रकाशन से ३ महीने पूर्व कार्यालय में पहुँचना अनिवार्य है।

१०. समस्त लेखकों को, जिनके लेख पत्रिका में प्रकाशित हैं, उनको पत्रिका की एक प्रति डाक द्वारा प्रेषित की जाएगी।

११. प्रकाशनार्थ लेखों को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक मण्डल द्वारा सुरक्षित रहेगा।

१२. पत्रिका में प्रकाशित लेखों में निहित सूचनाओं, विचारों, सामग्रियों आदि का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।

१३. सम्पादक मण्डल द्वारा निर्णित शोध एवं मौलिक लेख पुरस्कृत भी किए जा सकते हैं।

१४. लेखों के विषय में कोई विवाद किसी संस्था या न्यायालय द्वारा आपत्ति उठाये जाने पर लेखक द्वारा सीधे इसका प्रत्युत्तर एवं संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना आवश्यक होगा।

१५. तन्त्र आगम से सम्बन्धित दुर्लभ मन्त्र, यन्त्र तथा स्तोत्र आदि भी प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे।

१६. पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियाँ नि:शुल्क भेजना आवश्यक है। पत्रिका के जिस अङ्क में समीक्षा प्रकाशित होगी, उसकी एक प्रति निशुल्क उपलब्ध कराई जाएगी।